

प्राणि – जगत

अंक—2



भारतीय प्राणि सर्वेक्षण,
कलकत्ता

प्राणि – जगत

अंक—2



निदेशक,
भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता,
द्वारा संपादित एवं प्रकाशित

1 9 8 9

© भारत सरकार, 1989

प्रकाशन तिथि—जनवरी, 1989

मूल्य—रु. 50/-

PRANI JAGAT

NO. 2

1989

Published by the Director and Produced by the Publication Division, Zoological Survey of India, Nizam Palace 2nd M.S.O. Building, 13-14 floors, 234/4, A. J. C. Bose Road, Calcutta-700020 ; and Printed at The Technical & General Press, 17 Crooked Lane, Calcutta-700069.

प्रस्तावना

हमें खुशी है कि भारतीय प्राणि सर्वेक्षण की हिन्दी पत्रिका 'प्राणि-जगत' का दूसरा अंक आपके हाथों में है। इस अंक के कुछ लेख भारतीय वानरों, गोडावण (ग्रेट इन्डियन बस्टर्ड), लाख पैदा करने वाले कीड़े, तथा अनाज के दुश्मन कीड़ों पर हैं। 'प्राणि-जगत' के पिछले अंक में मध्य प्रदेश के संरक्षित वनों और पशु विहारों पर जानकारी दी गई थी। इस बार महाराष्ट्र तथा अण्डमान-निकोबार द्वीपों पर दे रहे हैं। भारत के जीव जन्तुओं पर वैज्ञानिक जानकारी हिन्दी में प्रकाशित करना ही इस पत्रिका का उद्देश्य है।

इस अंक का संपादन करने में सहयोग के लिये मैं डॉ. राजेन्द्र कुमार वाष्ण्य, सह-निदेशक (वैज्ञानिक-एस एफ), को धन्यवाद देता हूँ।

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण,
कलकत्ता।

डा. असकेत सिंह
वैज्ञानिक-एस एफ तथा
प्रभारी अधिकारी

प्राणि-जगत

अंक-2

1989

विषय सूची

	पृष्ठ
1. भारतीय प्राणि सर्वेक्षण : नवीन गतिविधियाँ	1
2. भारतीय वानर, उनका विस्तार एवं सर्वेक्षण	विजय चन्द्र अग्रवाल 9
3. महाराष्ट्र राज्य के राष्ट्रीय उद्यान, पशुविहार एवं वन-उद्यान	राधेश्याम शर्मा, डेविस सिंह, मल्हार प्रधान एवं गुलाम मुहम्मद यजदानी 19
4. कीड़ों से लाख	राजेन्द्र कुमार वाष्णोय 31
5. गोडावन	सैयद मोहम्मद अली 37
6. अनाजों के हानिकारक कीड़े	जयप्रकाश नारायण शुक्ल 43
7. भारतीय कर्ण कीट : एक परिचय	ज्ञानेन्द्र कुमार श्रीवास्तव एवं बैजूलाल 51
8. उत्तर प्रदेश में दीमकों के सहजीवी फ्लैजीलेट (प्रोटोजोआ) का अध्ययन	ध्रुव नारायण तिवारी 57
9. आर्थ्रोप्टेरा कीड़ों में ध्वनि प्रसारण	महेन्द्र सिंह शिशौदिया 67
10. मिट्टी की प्राणि-सम्पदा	अशोक कान्ति सान्याल 79
11. चींटियों की समाज व्यवस्था	रघुनाथ तिवारी 85

12. भारतीय व्याध पतंगों का वर्गीकरण	महाबीर प्रसाद	91
13. क्षणभंगुर कीड़े 'मई मक्खियाँ'	विशम्भर दयाल श्रीवास्तव	95
14. भारतीय वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम, 1972—संक्षिप्त विवेचन	नत्थूराम शर्मा	103
15. अण्डमान तथा निकोबार द्वीप समूहों के वन्यजीव	गालि चन्द्रशेखर राव एवं राधेश्याम शर्मा	107
16. संक्षिप्त रचनाएँ :		
(i) उजड़ते उपवन और प्रभावित पक्षी	कृष्णमूर्ति प्रसाद सिंह	127
(ii) गिरगिट	भास्कर यादव एवं राजेन्द्र हरिभाऊ कांबले	131

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण

नवीन गतिविधियाँ

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण की स्थापना सन 1916 ई. में कलकत्ता में हुई थी। इसका मुख्य उद्देश्य भारत के प्राणियों संबंधी समस्त ज्ञान की खोज है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् विभिन्न योजना कालों में इस विभाग को कुछ अन्य कार्य भी सौंपे गये हैं। इस समय इस कार्यालय के कार्य इस प्रकार है :-

- (1) देश के अन्दर प्राणियों का सर्वेक्षण,
- (2) प्राणियों के प्राप्त नमूनों का टैक्सोनोमिक अध्ययन,
- (3) देश में दुर्लभ होते जा रहे प्राणियों का विस्तृत ज्ञान,
- (4) राष्ट्रीय प्राणि-संग्रह के लिए प्राप्त नमूनों की देखभाल और विस्तार,
- (5) भारतीय प्राणि ग्रंथ माला (फौना ऑफ इंडिया) तथा अन्य विभागीय शोध कार्यों का प्रकाशन।

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण का मुख्यालय कलकत्ता में है तथा देश के अन्य भागों में 15 क्षेत्रीय कार्यालय हैं। इस विभाग ने लगभग एक तिहाई देश के प्राणियों का सर्वेक्षण कार्य पूरा कर लिया है। भारतीय प्राणि ग्रंथमाला के अन्तर्गत 115 ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। लगभग 10,000 नयी जातियों का पता लगाया गया है, जिनका अध्ययन के पश्चात् पूरा विवरण प्रकाशित किया गया है। विभाग के संग्रहालयों में करीब 20 लाख नमूने हैं, जो करीब 65 हजार प्राणियों की जातियों के हैं। इनमें से करीब 12 हजार जातियों के मानक नमूने (टाइप) भी विभाग में संग्रहित हैं।

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण के कार्यों का विश्लेषण करके, वैज्ञानिकों की विभिन्न कमेटियों की अनुशंसा पर, भारत सरकार के पर्यावरण एवं वन मंत्रालय ने, भारतीय प्राणि सर्वेक्षण के लिए सन 2000 ईसवी तक निम्न कार्यवृत्त निर्धारित किया है :-

प्राथमिक लक्ष्य :

1. भारत के प्राणियों का सर्वेक्षण :

इसके अन्तर्गत निम्न क्षेत्रों को पहली प्राथमिकता दी गई है

- (i) हिमालय की पारिस्थितिकी
- (ii) राजस्थान, गुजरात तथा लडाख के मरुक्षेत्र ,
- (iii) अण्डमन-नीकोबार तथा लक्षद्वीप द्वीप समूहों की द्वीप पारिस्थितिकी ;
- (iv) पश्चिमी घाट तथा उत्तर-पूर्वी भारत के वर्षा क्षेत्र ।

दूसरी प्राथमिकता कुछ चुने हुए क्षेत्रों के प्राणि संबंधी ज्ञान को दी गई है :-

- (i) पश्चिम बंगाल, उड़ीषा तथा आन्ध्र प्रदेश के सागर संगम तथा खारे जल (इश्चुराइन ओर ब्रेकिशवाटर) की पारिस्थितिकी ,
- (ii) जम्मू-कश्मीर, बिहार, पंजाब तथा मणिपुर के मीठे जल के क्षेत्र ;
- (iii) कुछ विशेष बायोस्फीयर रिजर्व, जलीय क्षेत्र, गरान (मेंग्रोव) आदि संरक्षित क्षेत्र ।

2. टेक्सोनोमिक अध्ययन :

देश में पिछले बीस वर्षों में सर्वेक्षण से प्राप्त प्राणियों का 65% टेक्सोनोमिक (पहचान एवं नामकरण) अध्ययन किया जा चुका है। शेष का अध्ययन विभाग के वैज्ञानिक तथा बाहर के अन्य संस्थानों, विश्वविद्यालयों तथा देश-विदेश के अन्य टेक्सोनोमिक वैज्ञानिकों की मदद से किया जाएगा।

3. विलुप्त होती हुई जातियों का सांख्यिक सर्वेक्षण :

भारतीय उपमहाद्वीप में लगभग 75,000 प्राणियों की जातियाँ हैं, जिसमें से लगभग 2500 मछलियाँ, 150 उभयचर, 450 सरीसृप, 2000 चिड़ियाँ तथा 850 स्तनपायी जन्तु हैं। इनमें से 81 स्तनपायी तथा अनेक तितली तथा अन्य कीड़ों की जातियों को विलुप्त होता हुआ गिना जाता है। अब तक कुछ जातियों का विशेष सर्वेक्षण किया गया है, जैसे -

- (i) लाइन टैल्ड मकाक (सिंह पूँछी बंदर)
- (ii) मनीपुर स्टेग (मनीपुरी हिरण)
- (iii) हिस्पिड हेअर (दूढ़ लोमी खरगोश)
- (iv) वाइल्ड आस (जंगली गधा)
- (v) ग्रेट इंडियन बस्टर्ड (गोदावण), इत्यादि ।

अन्य विलुप्त होती जातियों पर अनुसंधान जारी है, जो 1995 तक पूरे होने की आशा है।

4. विभागीय प्रकाशन :

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण अब तक 11 प्रकार के प्रकाशन निकालता था। अब निम्न चार को लगातार प्रकाशित करना है :-

- | | |
|---|---------|
| (1) भारतीय प्राणि सर्वेक्षण के रिकार्ड (अंग्रेजी) | तिमाही |
| (2) भारतीय प्राणि सर्वेक्षण के मेमोइर (अंग्रेजी) | यदाकदा |
| (3) भारतीय प्राणि विज्ञान की प्रकाशन सूची (अंग्रेजी) | वार्षिक |
| (4) भारतीय प्राणि सर्वेक्षण की वार्षिक रिपोर्ट (अंग्रेजी) | „ |

इनके अतिरिक्त समय-समय पर अन्य मोनोग्राफ, हैंडबुक तथा सामयिक शोध प्रबंधों का प्रकाशन किया जाएगा।

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण ने हिन्दी पत्रिका 'प्राणि जगत' का प्रथम अंक 1981 में प्रकाशित किया था। उसमें 16 लेख तथा 2 संक्षिप्त रचनाएँ थीं। इस अंक का मूल्य 15.00 रुपये है तथा बिक्री के लिये उपलब्ध है।

सर्वेक्षण के प्रकाशन मंगाने के लिए चैक नहीं भेजें। केवल डिमान्ड ड्राफ्ट भेजें जो कि 'पे एण्ड एकाउन्ट आफिसर (जूलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया) कलकत्ता' के नाम पर होना चाहिए। बाकी सूचनाएँ तथा प्रकाशन सूची निदेशक के कार्यालय से प्राप्त करें, जिसका पता अन्त में दिया गया है।

5. 'भारत के प्राणी' ग्रंथमाला (फौना ऑफ इंडिया सीरीज) :

देश के प्राणियों का विशद टेक्सोनोमिक अध्ययन करने के पश्चात हर वर्ग के प्राणियों पर इस ग्रंथमाला के अंतर्गत पुस्तक प्रकाशित की जाती हैं। इसमें उस वर्ग की भारतीय क्षेत्र में पायी जाने वाली सभी जातियों की पहचान तथा चित्र रहते हैं। अबतक 115 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। जिनमें लगभग 23,000 जीव-जन्तुओं की जातियों का वर्णन है। 12 पुस्तकों पर काम चल रहा है जो 1990 तक प्रकाशित हो जाएंगी। करीब 50,000 जातियों का वर्णन करते हुए 50 ग्रंथ और प्रकाशित करने की योजना है, जो सन 2000 तक पूरी होने की आशा है। राजस्थान, अंदमन-नीकोबार, नामधापा संरक्षित क्षेत्र तथा उड़ीसा राज्य के प्राणियों पर अलग पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

6. प्राणियों का राष्ट्रीय संग्रह :

इस विभाग में प्राणियों का राष्ट्रीय संग्रह है जिसमें लगभग 20 लाख नमूने हैं जो करीब 75,000 जातियों के हैं। इनमें करीब 10,000 जातियों के नमूने बर्मा, पाकिस्तान, बंगलादेश, थाईलैंड तथा श्रीलंका से प्राप्त किये गए हैं। इस राष्ट्रीय संग्रह में लगभग 15,000 जातियों के “मानक नमूने” (टाइप) भी हैं, जो बहुमूल्य हैं। कुछ नमूने तो 150 वर्ष से भी पुराने हैं। सारे नमूनों और उनके संग्रह की जानकारी कार्डों पर दी हुई है।

7. पहचान, परामर्श, सूचना तथा पुस्तकालय सेवाएं :

वैज्ञानिकों तथा शोध छात्रों के लिए प्राणियों की पहचान करके सही नाम बताया जाता है। भारतीय प्राणियों से संबंधित सूचनाएं तथा परामर्श दिया जाता है। विभाग के कलकत्ता मुख्यालय के पुस्तकालय तथा क्षेत्रीय कार्यालयों के पुस्तकालयों से बाहर के वैज्ञानिक तथा शोध-छात्र लाभ उठाते हैं।

विभाग में अब एक कम्प्यूटर डाटा बैंक की स्थापना का प्रयास चल रहा है। जिससे प्राणियों की सभी जातियों, उनका भौगोलिक वितरण, उनपर प्रकाशित ग्रन्थों आदि का सारा विवरण कम्प्यूटर पर संग्रहित किया जाएगा।

द्वितीय प्राथमिकताएं :

1. मुख्यालय तथा क्षेत्रीय केन्द्रों पर अजायबघरों का विकास :

कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय (इंडियन म्यूजियम) में 5 दीर्घाएं विभाग द्वारा चलाई जा रही हैं। इनमें स्तनपायी जंतुओं की दो, चिड़ियों सरीसृप और उभयचर, मछलियों आदि की दो, तथा कीड़ों की एक दीर्घा (गैलरी) है। इनमें व्हेल का जबड़ा, विशाल हाथियों का कंकाल, वालरस, चीतल के डायोरामा, घड़ियालों के माउन्ट तथा अनेक प्रकार के जन्तुओं के सींगों का सुन्दर संग्रह दर्शाया गया है। इन्हें देखने प्रतिदिन सैकड़ों व्यक्ति आते हैं।

विभाग के शिलौंग, पुणे, देहरादून, मद्रास, जोधपुर तथा सोलन कार्यालयों में पशु-पक्षियों का अच्छा संग्रह प्रदर्शित किया गया है। इन्हें अब और अधिक विस्तार देने का प्रयास है। यह प्रादेशिक संग्रहालय 1991 तक पूरे हो जाएंगे।

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण भारत के पूर्वी तट पर पश्चिम बंगाल के दीघा क्षेत्र में एक आधुनिक मत्स्यालय तथा सामुद्रिक जन्तु शोध-केन्द्र की स्थापना कर रहा है। इस मेरीन एक्वेरियम के लिए जमीन प्राप्त हो चुकी है और निर्माण कार्य जोरों पर है। ऐसी आशा है कि यहाँ पर विधिवत कार्य 1990 से शुरू किया जा सकेगा।

2. पर्यावरण प्रभाव की रिपोर्ट :

मंत्रालय द्वारा विशेष रूप से मांगे जाने पर विभाग विभिन्न नदी जल क्षेत्रों, जंगलों तथा पर्यावरण क्षेत्रों में प्राणियों की स्थिति पर रिपोर्ट प्रस्तुत करता है। इससे इन क्षेत्रों में नदी विकास योजनाएं लागू करने में मंत्रालय की सही स्थिति समझने में सहायता होती है।

संगठनात्मक स्वरूप

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण का मुख्यालय कलकत्ता में है। देश में 15 स्थानों पर क्षेत्रीय केन्द्र तथा पारिस्थितिकी केन्द्र स्थापित हैं। इनकी सूची तथा कार्यक्षेत्र नीचे दिया जा रहा है :

- | | |
|--|---|
| (1) उत्तरी क्षेत्रीय केन्द्र, देहरादून | उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, चंडीगढ़ |
| (2) दक्षिणी क्षेत्रीय केन्द्र, मद्रास | तामिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश, केरल, कर्नाटक का भाग |
| (3) पूर्वी क्षेत्रीय केन्द्र, शिलाँग | उत्तरी-पूर्वी राज्य—असम, मेघालय, नागालैंड, मणिपुर, त्रिपुरा, मीजोरम |
| (4) पश्चिमी क्षेत्रीय केन्द्र, पुणे | महाराष्ट्र (विदर्भ छोड़कर), कर्नाटक का भाग तथा गोआ |
| (5) मध्य क्षेत्रीय केन्द्र, जबलपुर | मध्यप्रदेश तथा महाराष्ट्र का विदर्भ भाग |
| (6) मरुभूमि क्षेत्रीय केन्द्र, जोधपुर | राजस्थान एवं गुजरात |
| (7) गंगा मैदान क्षेत्रीय केन्द्र, पटना | बिहार |

- | | |
|--|--|
| (8) अण्डमन निकोबार क्षेत्रीय केन्द्र,
पोर्ट ब्लेयर | अण्डमन तथा निकोबार द्वीप
समूह |
| (9) उच्च क्षेत्रीय प्राणिशास्त्र केन्द्र, सोलन | हिमाचल प्रदेश तथा जम्मू
काश्मीर |
| (10) सुन्दरवन क्षेत्रीय केन्द्र, पोर्ट कैनिंग | सुन्दरवन के एस्चुराइन तथा
मेंग्रोव इलाके |
| (11) पश्चिमी घाट क्षेत्रीय केन्द्र, कोभीकोड | पश्चिमी घाटों के वर्षा जंगल |
| (12) अरुणाचल प्रदेश क्षेत्रीय केन्द्र, ईटानगर | अरुणाचल प्रदेश |
| (13) समुद्री जीव विज्ञान केन्द्र, मद्रास | तटीय तथा समुद्री पर्यावरण |
| (14) मीठे पानी का जीव विज्ञान केन्द्र,
हैदराबाद | मीठे जल के क्षेत्रों का पर्यावरण |
| (15) सागर संगम जीव विज्ञान केन्द्र,
बरहामपुर (उड़ीसा) | पूर्वी तट के सागर संगम एवं
कच्छ वनस्पति (मेंग्रोव)
इलाके |

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण की अपनी बिल्डिंगें कलकत्ता, शिलौंग, देहरादून तथा मद्रास में बन गई हैं। कई अन्य क्षेत्रीय कार्यालयों के लिए जमीन मिल गई है एवं कुछ के लिये इस ओर प्रयत्न जारी है।

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण कार्यालयों के पते

मुख्यालय :

तार का पता “जूलोजी” कलकत्ता

निदेशक कार्यालय

- (1) निजाम पैलेस,
दूमरी बहुमंजिली आफिस बिल्डिंग,
13-14 वीं मंजिल,
234/4, आचार्य जगदीश चन्द्र बोस रोड,
कलकत्ता-700 020.

- (2) एम-ब्लाक, न्यू अलीपुर,
कलकत्ता-700 053.
- (3) फायर ब्रूफ स्पिरिट बिल्डिंग,
27, जवाहर लाल नेहरू रोड,
कलकत्ता-700 013.
- (4) पुस्तकालय तथा संग्रहालय बीथियाँ :
इंडियन म्यूजियम,
27, जवाहरलाल नेहरू रोड,
कलकत्ता-700 013.

क्षेत्रीय कार्यालय :

- (1) उत्तरी क्षेत्रीय केन्द्र,
218, कौलागढ़ रोड,
देहगढ़न (उत्तरप्रदेश)-248 001.
- (2) पूर्वी क्षेत्रीय केन्द्र,
रीमा कालोनी, शिलांग (मेघालय)-793 003.
- (3) पश्चिमी क्षेत्रीय केन्द्र,
1182/2, फर्गुसन कालेज रोड,
पुणे (महाराष्ट्र)-411 005.
- (4) दक्षिणी क्षेत्रीय केन्द्र,
100, सेंथोम हाई रोड,
मद्रास (तमिलनाडु)-600 028.
- (5) मध्य क्षेत्रीय केन्द्र,
1544/ए, नेपियर टाउन,
जबलपुर (मध्यप्रदेश)-482 001.
- (6) मरुभूमि क्षेत्रीय केन्द्र,
पाटौदी हाउस, पावटा बी रोड,
जोधपुर (राजस्थान)-342 006.
- (7) गंगा मैदानी क्षेत्रीय केन्द्र,
बी/11, पीपुल्स कोआपरेटिव कालोनी,
लोहिया नगर, पटना (बिहार)-800 020.

- (8) उच्च क्षेत्रीय प्राणिशास्त्र केन्द्र,
राजगढ़ रोड,
सोलन (हिमाचल प्रदेश)-173 212.
- (9) समुद्री जीवविज्ञान केन्द्र,
100, सेंथोम हाई रोड,
मद्रास (तमिलनाडु)-600 028.
- (10) मीठा जल जीव विज्ञान केन्द्र,
1-1-300/बी, अशोक नगर,
हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)-500 020.
- (11) अन्डमन निकोबार क्षेत्रीय केन्द्र,
मिडल पोइन्ट,
पोर्ट ब्लेयर (अन्डमन द्वीप)-744 101.
- (12) पश्चिमी घाट क्षेत्रीय केन्द्र,
एरान्ही पालम,
कोझीकोड (केरल)-673 006.
- (13) सागर संगम जीवविज्ञान केन्द्र,
हिल पटना,
बरहामपुर (उड़ीसा)-760 005.
- (14) अरुणाचल प्रदेश क्षेत्रीय केन्द्र,
158, पी सेक्टर,
ईटानगर (अरुणाचल प्रदेश)-791 111.
- (15) सुन्दरवन क्षेत्रीय केन्द्र,
पोर्ट कैनिंग, 24-परगना,
(पश्चिम बंगाल)-743 329.

भारतीय वानर, उनका विस्तार एवं संरक्षण

चिजय चन्द्र अग्रवाल

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता

आजकल विश्व के प्राणि वैज्ञानिकों का ध्यान जितना वानरों के अध्ययन की ओर आकर्षित हुआ है उतना जन्तु विज्ञान के अन्य किसी शाखा की ओर नहीं। इसका मुख्य कारण है कि इन वानरों तथा मनुष्यों की शारीरिक रचना, कार्यकी, स्वभाव एवं सामाजिक व्यवहार में काफी समानता है। इन वानरों के अध्ययन से मनुष्य के विकास के बारे में अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त विदेशों में इन जानवरों पर चिकित्सा सम्बन्धी अनुसन्धान व्यापक रूप से हो रहे हैं, जिससे कि इन पर विभिन्न औषधियों के परिणाम मालूम होने पर उनका प्रयोग मनुष्य पर किया जा सके। आश्चर्य की बात यह है कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, जो इन अनुसन्धानों में अग्रणी है, वहाँ वानर पाये ही नहीं जाते, और उन्हें इन जानवरों के लिये मुख्यतः भारत पर निर्भर रहना पड़ता है। जब से भारत ने वानरों का निर्यात बन्द कर दिया है, अमेरिका के वैज्ञानिकों ने अपने देश में कुछ खास-खास बन्दरों के समूह विकसित कर लिए हैं।

साधारणतः अमानुषीय वानर विश्व में 40° अक्षांश उत्तर से 40° अक्षांश दक्षिण तक पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त इनकी कुछ जातियाँ चीन व जापान में भी मिलती हैं। ये सहारा, अरब तथा थार के मरुस्थल में नहीं पाए जाते। विश्व में पाए जाने वाली लगभग 200 जातियों में से 15 जातियाँ भारत में पाई जाती हैं।

क्योंकि वानरों का विकास वृक्ष पर रहने वाले प्राणियों से हुआ है और अभी इनकी अधिकतर जातियाँ वृक्षों पर ही वास करती हैं, इसलिए इनमें बहुत से वृक्षीय रूपान्तरण पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, इनके हाथ-पैर के अंगूठे मुड़कर दूसरी उँगलियों को छू सकते हैं, जिससे इन्हें पेड़ की शाखाओं को पकड़ने में सहायता मिलती है। इनका मस्तिष्क अन्य जन्तुओं

की तुलना में अत्यधिक विकसित होता है तथा इनकी दोनों आँखें सामने की ओर एक ही वस्तु पर केन्द्रित हो सकती हैं।

भारत में पाए जाने वाले वानर मुख्यतः चार श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं :—

1. वनमानुष या एप्स
2. बन्दर
3. लंगूर
4. लोरिस

प्रस्तुत लेख में केवल बन्दर लंगूर और वनमानुष (एप्स) के बारे में वर्णन किया गया है। ये सभी दिनचर प्राणी हैं।

बन्दर

बन्दर का चेहरा गुलाबी या लाल होता है। अधिकांश बन्दरों की पूँछ शरीर की लम्बाई से छोटी होती है। परन्तु भारत में दो तथा श्रीलंका में एक प्रकार का बन्दर पाया जाता है जिसकी पूँछ शरीर के बराबर या उससे लम्बी होती है।

बन्दर झुंड में रहते हैं और उनका अलग अलग इलाका होता है। प्रत्येक झुंड में एक या उससे अधिक वयस्क नर एवं मादा, अघेड़ तथा बच्चे होते हैं। ये गाँव, शहर और जंगलों में पाए जाते हैं और अधिकतर पेड़ों पर वास करते हैं। परन्तु दिन का कुछ समय यह जमीन पर भी व्यतीत करते हैं। ये मुख्यतः शाकाहारी होते हैं। ये कोपल, तने, फल, फूल, बीज इत्यादि खाते हैं। ये कभी-कभी कीड़े-मकोड़े भी खाते हैं। नीकोबार द्वीप में पाया जाने वाला बन्दर घोंघे और केकड़े भी खाता है। भोजन पाते ही वे पहले उसे अपने गल-थैलियों में ठूस लेते हैं और फिर आराम से खाते हैं। ये खड़ी फसल को भी बहुत नुकसान पहुँचाते हैं। शहरों में मनुष्य के निकट रहते-रहते ये खान-पान में सर्वभक्षी हो गए हैं।

भारत में इन बन्दरों की सात जातियाँ पाई जाती हैं। आकार में नर, मादा से थोड़े बड़े एवं भारी होते हैं।

1. र्हीसस बन्दर

र्हीसस बन्दर आकार में बड़ा होता है। इसके शरीर की लम्बाई 47-63 से. मी. तक होती है। इसकी पूँछ शरीर के आधे से कुछ कम

लम्बी होती है। इसके पीठ का पश्च भाग तथा नितम्ब अग्र भाग से ज्यादा चमकदार और सुनहरे-भूरे रंग का होता है।

रहीस बन्दर उत्तरी भारत में सर्वत्र पाया जाता है। दक्षिण भारत में इसका विस्तार ताप्ती तथा कृष्णा नदियों तक है। हिमालय क्षेत्र में ये 2400 मीटर की ऊँचाई तक चीड़ के वनों में पाए जाते हैं। ये शहर, गाँवों, मन्दिरों, रेलवे स्टेशन तथा जंगलों में रहते हैं।

रहीस बन्दर प्रयोगशाला में भलीभाँति जीवित रह सकते हैं। इनके तथा मनुष्य की बीमारियों में अत्यधिक समानता है। अभी कुछ वर्ष पहले तक इन बन्दरों का उपयोग पोलियो वेक्सीन बनाने में होता था। इस कारण इनका प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में भारत से विदेशों को निर्यात होता था। परन्तु निरन्तर निर्यात होने के कारण देश में इनकी संख्या काफी कम हो गई और भारत सरकार ने सन 1978 में इसके निर्यात पर रोक लगा दी है। हाल में ही भारतीय प्राणि सर्वेक्षण के जीव वैज्ञानिकों ने पूरे देश में इनकी संख्या लगभग 2,30,000 आँकी है।

2. असमीय बन्दर

असमीय बन्दर का कद रहीस बन्दर के लगभग समान होता है। इसकी पूछ पश्चिमी क्षेत्र में शरीर के आधे से ज्यादा तथा पूर्वी क्षेत्र में आधे से कम लम्बी होती है। इसके पीठ का अग्रभाग, पश्च भाग की अपेक्षा ज्यादा चमकीला व भूरे रंग का होता है।

यह बन्दर हिमालय की पहाड़ियों में नेपाल से लेकर पूर्व में अरुणाचल प्रदेश तक तथा असम, मेघालय और नागालैन्ड के पहाड़ी क्षेत्रों में 610-1830 मीटर की ऊँचाई तक पतझड़ वाले और सदाबहार जंगलों में पाया जाता है।

रहीस बन्दर की तुलना में, भारत में इन बन्दरों की संख्या बहुत कम है। कुछ जगहों पर इन बन्दरों को खाने के लिए मारा जाता है। इसके अतिरिक्त इनके यकृत तथा अन्य अंगों को दवा की तरह भी प्रयोग किया जाता है।

3. बोनेट बन्दर

बोनेट बन्दर रहीस बन्दर से थोड़े छोटे होते हैं, परन्तु इनकी पूँछ इनके शरीर के बराबर अथवा उससे थोड़ी लम्बी होती है। इसके सिर के

केश एक बिन्दु से चारों ओर बिखरे होते हैं और सिर पर एक गोल टोपी बनाते हैं।

यह बन्दर दक्षिण भारत में पाया जाता है। इसके विस्तार की उत्तरी सीमा ताप्ती और गोदावरी नदियाँ हैं। यह समुद्र की सतह से नीलगिरि की पहाड़ियों पर 2100 मीटर की ऊँचाई तक मिलता है। ये गाँव, शहर, जंगल तथा शुष्क एवं पहाड़ी स्थानों में पाए जाते हैं।

भारत में यह बन्दर बहुतायत से पाया जाता है और इसकी संख्या लगभग 1,78,000 आँकी गई है।

4. सिंह-पूँछीय बन्दर

सिंह-पूँछीय बन्दर काले रंग के होते हैं। इनके चेहरे के चारों ओर लम्बे भूरे बाल (अयाल) होते हैं तथा पूँछ के सिरे पर बालों का गुच्छा होता है। इसके शरीर की लम्बाई 50-61 से. मी. तक तथा पूँछ की लम्बाई शरीर के दो-तिहाई के बराबर होती है।

यह बन्दर दक्षिण भारत में पश्चिमी घाट के पहाड़ी क्षेत्रों में पाया जाता है। यह नम सदाबहार जंगलों में 800-1300 मीटर की ऊँचाई तक ऊँचे-ऊँचे वृक्षों पर वास करता है। यों तो इसकी विस्तार सीमा कर्नाटक में जोग जलप्रपात से लेकर तामिलनाडु में कन्याकुमारी तक है, परन्तु अब यह छुटपुट जगहों में ही पाया जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि इनके रहने के लिए लगातार घने जंगलों का होना आवश्यक है। परन्तु आजकल विविध कारणों से जंगल साफ हो गये हैं, जिससे इनके निवास स्थान में कमी हो गई है। इसके अतिरिक्त केरल प्रदेश की कुछ जंगली जातियाँ इन्हें खाने के लिए मारती हैं। ऐसा अनुमान है कि ये बन्दर केरल में 800-1000 की संख्या में तथा कर्नाटक में लगभग 3000 की संख्या में रह गए हैं। यदि इनके संरक्षण पर समुचित ध्यान न दिया गया तो ये कुछ वर्षों में ही दुनिया से लुप्त हो जा सकते हैं। इसी कारण से भारत सरकार ने वन्य जीवन संरक्षण अधिनियम, 1972 के अन्तर्गत अनुसूची 1 में इसे संरक्षण प्रदान किया है।

5. सूअर-पूँछीय बन्दर

सूअर-पूँछीय बन्दर पीले-भूरे रंग का होता है। इसका कद रूसस बन्दर के लगभग समान होता है। इसके सिर के अग्रभाग के बाल काले

होते हैं और अंग्रेजी अक्षर 'वी' का आकार बनाते हैं तथा पीछे के बाल एक केन्द्र बिन्दु से चारों ओर बिखरे होते हैं। जैसा नाम से विदित है इसकी पूँछ सूऊर की पूँछ के समान छोटी (शरीर की लम्बाई की एक-तिहाई) और पतली होती है।

ये बन्दर दक्षिण-पूर्वी एशिया के वासी हैं और भारत में केवल उत्तर-पूर्वी प्रदेशों में ही पाए जाते हैं। ये घने पतझड़ वाले और सदाबहार पहाड़ी जंगलों में 75-1300 मीटर की ऊँचाई तक रहते हैं।

भारत में क्योंकि ये बन्दर सीमित संख्या में ही पाए जाते हैं, इसलिए इन पर ज्यादा शोधकार्य नहीं हो सका है और यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भारत में इनकी संख्या कितनी है। कहीं कहीं पर ये बन्दर खाने के लिए तथा इनके अंगों को दवा के रूप में प्रयोग करने के लिए मारे जाते हैं। दूसरे, जंगलों के कटने के कारण भी इनके रहने योग्य स्थान कम होते जा रहे हैं। इसलिए यदि इनके संरक्षण पर समुचित ध्यान न दिया गया तो भारत से इनके लुप्त हो जाने की संभावना है।

6. ठूँठ-पूँछीय बन्दर

ठूँठ-पूँछीय बन्दर कद में सब बन्दरों से औसतन बड़ा होता है। इसके शरीर की लम्बाई 50-70 से. मी. तक होती है। इसके शरीर का रंग चाकलेटी भूरा होता है। इसका चेहरा गुलाबी तथा चित्तीदार होता है। ललाट गंजा होता है और सिर के बाल एक केन्द्र बिन्दु से चारों ओर बिखरे होते हैं। इसकी पूँछ ठूँठ के समान छोटी (4-6 से. मी.) होती है।

ये बन्दर दक्षिण-पूर्वी एशिया के वासी हैं और भारत के केवल उत्तरी-पूर्वी प्रदेशों में ही पाये जाते हैं। ये घने पहाड़ी जंगलों में 2400 मीटर की ऊँचाई तक रहते हैं।

भारत में ये बन्दर सीमित संख्या में ही मिलते हैं। क्योंकि जंगलों का क्रमशः ह्रास हो रहा है, इस कारण इन बन्दरों के रहने योग्य स्थानों का संरक्षण आवश्यक है। वन्य जीवन संरक्षण अधिनियम, 1972 के अन्तर्गत इसे अनुसूची 2 में संरक्षण प्रदान किया गया है परन्तु इसे अनुसूची 1 में संरक्षण प्रदान करना उचित है।

7. कर्कट-भक्षी बन्दर

कर्कट-भक्षी बन्दर कद में र्हीसस बन्दर के समान होते हैं। इसके शरीर का रंग तेलीय-भूरा से लेकर गहरा-भूरा तक होता है। इसकी पूँछ शरीर के

बराबर अथवा उससे थोड़ा लम्बी होती है। इस गुण में ये बन्दर बोनट-बन्दरों से मिलते हैं। परन्तु इनके सिर के केश चक्राकार न हो कर आगे से पीछे की दिशा में मुड़े होते हैं।

यह बन्दर भारत में केवल नीकोबार द्वीप पुंज में ही पाया जाता है। इसके अतिरिक्त ये दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों में विस्तृत रूप से फैले हुए हैं। ये अयनवृत्तीय एवं मैनग्रोव के जंगलों में समुद्र की सतह से लेकर 200 मीटर की ऊँचाई तक रहते हैं।

भारतीय क्षेत्र में इन बन्दरों की संख्या एवं विस्तार सीमित है। वृहत नीकोबार द्वीप में भारतीय प्राणि सर्वेक्षण के जीव वैज्ञानिकों ने इसकी संख्या लगभग 2000 आँकी है। इनके रहने के स्थानों अर्थात् जंगलों का क्रमशः ह्रास हो रहा है। इसके अतिरिक्त लोग इन्हें फसल को नुकसान पहुँचाने के कारण मारते भी हैं। इसलिए भारत में इस बन्दर का भविष्य उज्ज्वल नहीं है।

लंगूर

लंगूर का चेहरा काला होता है। इसकी पूँछ शरीर से ज्यादा लम्बी होती है। ये भी बन्दरों की तरह झुन्ड में रहते हैं और इनका अपना अलग-अलग इलाका होता है। प्रत्येक झुन्ड में एक या उससे अधिक वयस्क नर एवं मादा, अधेड़ और बच्चे होते हैं। ये दिनचर होते हैं।

लंगूर शहर, गाँव, रेगिस्तान एवं जंगलों में सभी जगह पाए जाते हैं। अधिकतर ये जंगलों में पेड़ पर ही रहते हैं। यों दिन का कुछ समय ये जमीन पर भी व्यतीत करते हैं। ये शाकाहारी होते हैं और मुख्यतः पेड़ की पत्तियाँ खाते हैं। परन्तु इनके भोजन में तने, कलियाँ, फूल, फल, बीज एवं कीड़े-मकोड़े शामिल हैं।

भारत में लंगूर की पाँच जातियाँ पाई जाती हैं। नर, मादा से थोड़ा बड़ा तथा भारी होता है।

1. हनुमान लंगूर :

हनुमान लंगूर, बन्दर की अपेक्षा कद में काफी बड़ा होता है। इसके शरीर की लम्बाई 51-108 से. मी. तक होती है तथा रंग विभिन्न जलवायु वाले क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न होता है, जैसे हिमालय वाले क्षेत्र में सफेद तथा केरल

के नम सदाबहार जंगलों में गहरा भूरा। इनके गालों का रंग इनके सिर के रंग से मिलता जुलता होता है। इनके सिर के बाल एक केन्द्र बिन्दु से चारों ओर बिखरे होते हैं। दक्षिण भारत की एक उपजाति में इसके सिर के बाल कलंगी की तरह खड़े होते हैं। लंगूर की पूँछ इसके शरीर से लम्बी होती है। एक मजेदार बात यह है कि उत्तर भारत के हनुमान लंगूर अपने पूँछ को आगे की दिशा में तथा दक्षिण भारत के लंगूर पीछे की दिशा में मोड़ कर चलते हैं।

हनुमान लंगूर भारत में काश्मीर से कन्याकुमारी तक, तथा गुजरात से पश्चिम बंगाल तक फैले हुए हैं। ये श्रीलंका एवं बंगलादेश में भी पाए जाते हैं। ये पश्चिम बंगाल में तिस्ता नदी के पूर्व में नहीं पाए जाते। ये समुद्रतल से लेकर हिमालय पहाड़ पर 3660 मीटर की ऊँचाई तक मिलते हैं। ये शहर, गाँव, रेगिस्तान एवं जंगलों में सभी जगह पाए जाते हैं। हमारे देश में इनकी अनुमानित संख्या 2,30,000 आँकी गई है।

2. टोपी वाले लंगूर

टोपी वाले लंगूर कद में हनुमान लंगूर से थोड़ा छोटे होते हैं। इनके शरीर की लम्बाई 59-70 से.मी. तक होती है। इनकी पूँछ शरीर से काफी लम्बी होती है। इनके पीठ का रंग भूरा होता है, परन्तु पेट का सुनहला। इनके सिर पर लम्बे काले बाल होते हैं, जो पीछे की दिशा में मुड़े होते हैं और टोपी की तरह प्रतीत होते हैं। इनके गालों का रंग सुनहला होता है जो सिर के रंग से भिन्न होता है।

ये लंगूर उत्तर-पूर्वी भारत के पहाड़ी जंगलों में रहते हैं और 61-1525 मीटर की ऊँचाई तक मिलते हैं।

इस लंगूर पर बहुत कम शोध कार्य हुआ है। इसलिए भारत में इसकी आबादी कितनी है उसका कोई ज्ञान नहीं है। यह लंगूर उत्तरी-पूर्वी भारत के जंगलों में सर्वत्र पाया जाता है इसलिए इस जाति के लुप्त हो जाने का कोई खतरा नहीं है। परन्तु जंगलों के कटने के कारण इसका भी भविष्य बहुत उज्ज्वल नहीं है।

3. सुनहला लंगूर

सुनहले लंगूर का चेहरा अन्य लंगूरों के भाँति ही काला होता है, परन्तु इसके शरीर के बाल क्रीम या सुनहले रंग के होते हैं। इसके शरीर की लम्बाई टोपी वाले लंगूर के समान ही होती है।

ये लंगूर दक्षिण-मध्य भूटान और भारत के गुआलपाड़ा जिले (असम) में शंकोस एवं मानस नदियों के मध्य माल के जंगलों में पाए जाते हैं। ये 2400 मीटर की ऊँचाई तक हिमालय की पहाड़ियों में मिलते हैं।

इन लंगूरों की संख्या बहुत ही सीमित है। लगभग 1200 लंगूर भूटान में तथा 200 भारतीय क्षेत्र में देखे गए हैं। सीमित विस्तार तथा जंगलों के क्रमशः ह्रास होने के कारण इनका भविष्य उज्ज्वल नहीं है।

4. फायरे का लंगूर

फायरे का लंगूर छोटे कद का होता है। इसके शरीर की लम्बाई 45-61 से. मी. तक होती है। इसकी पूँछ शरीर से लम्बी होती है। इसका शरीर भूरा होता है। इसके दोनों ओष्ठ तथा आँख के चारों ओर का भाग कोढ़ के समान सफेद होता है। इसके सिर के बाल पीछे की ओर मुड़े होते हैं परन्तु कभी-कभी ये कलंगी के समान खड़े होते हैं।

यह लंगूर भारत में केवल त्रिपुरा तथा असम के कछार जिले के पतझड़ वाले जंगलों में पाए जाते हैं। ये बंगलादेश के अतिरिक्त दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों में भी मिलते हैं।

त्रिपुरा प्रदेश में इनकी संख्या सीमित है। भारतीय प्राणि सर्वेक्षण के वैज्ञानिकों ने वहाँ लगभग 400 लंगूर देखे हैं। बंगलादेश में भी लगभग 200 लंगूर देखे गए हैं। परन्तु भारत में इनका विस्तार अत्यन्त सीमित होने के कारण तथा प्रारम्भिक जंगलों के कटने के कारण इस लंगूर का भविष्य संकट में है। इसीलिए इस लंगूर को हाल में ही वन्य जीवन संरक्षण अधिनियम, 1972 के अन्तर्गत अनुसूची 1 में संरक्षण प्रदान किया गया है।

5. नीलगिरि लंगूर

नीलगिरि लंगूर के शरीर का रंग काला होता है और सिर का रंग पीला-भूरा। इसकी पूँछ अन्य लंगूरों की भाँति शरीर से थोड़ा लम्बी होती है।

ये लंगूर पश्चिमी घाट के नम पतझड़ वाले तथा सदाबहार जंगलों में 900-1200 मीटर की ऊँचाई पर मिलते हैं। ये नीलगिरि, पलणी, अना-मलाई तथा कार्डमम की पहाड़ियों में खासतौर से पाए जाते हैं।

सिंह पूंछीय बन्दर के समान इस लंगूर का भी विस्तार अत्यन्त सीमित है। नीलगिरि की पहाड़ियों में लगभग 200 लंगूर देखे गए हैं। पलणी की पहाड़ियों में भी इनकी संख्या 500 तक आँकी गई है। यही स्थिति इनकी अन्य पहाड़ियों में भी है। इसलिए यदि इस लंगूर के संरक्षण तथा व्यवस्था पर सम्पूर्ण ध्यान न दिया गया तो इनके लुप्त हो जाने की संभावना है।

एक ओर खेती-बाड़ी, रहने के स्थान, उद्योग, जल-विद्युत परियोजना इत्यादि के लिए जंगल क्रमशः साफ किए जा रहे हैं, दूसरी ओर प्लाईवुड, दियामलाई की काँटियाँ, रेलवे स्लीपर इत्यादि बनाने के लिए बड़े बड़े वृक्ष काटे जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त इन लंगूरों को चमड़े तथा दवा की तरह प्रयोग करने के लिए भी मारा जाता है। इन सब कारणों से इनका भविष्य खतरे में है।

वनमानुष (एप्स)

ये बिना पूँछ वाले वानर हैं जो विकास शृंखला में मनुष्य के सन्निकट है। भारत में इसकी केवल एक ही जाति मिलती है, वो है हलक।

हलक आकार में छोटे होते हैं। इनका शरीर 45-63 से. मी. तक लम्बा होता है। इनके हाथ-पैर शरीर की तुलना में बहुत लम्बे होते हैं। वयस्क नर एवं बच्चे काले रंग के होते हैं परन्तु वयस्क मादा हलके भूरे रंग की। इनकी भ्रूकुटि श्वेत रंग की होती है। नर, मादा से बड़ा होता है।

हलक अधिकतर ऊँचे-ऊँचे और घने पेड़ों पर रहते हैं तथा एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर झूलते हुए जाते हैं। ये 2-4 के कुटुम्ब में रहते हैं। इनका कुटुम्ब नर, मादा और एक या दो बच्चों तक ही सीमित होता है। ये मुख्यतः शाकाहारी होते हैं, परन्तु कीड़े-मकोड़े, मकड़ियाँ, चिड़ियों के अण्डे इत्यादि भी खाते हैं। ये दिनचर हैं और प्रातः उठ कर ही जंगलों में 'हू' 'हू' की आवाज करते हैं। इस आवाज से ही यह मालूम हो जाता है कि ये जंगल में कहाँ पर हैं?

हलक के रहने के लिए घने जंगल का होना आवश्यक है। परन्तु जंगलों के कटने के कारण अब ये छिटपुट जगहों पर ही मिलते हैं। हाल के सर्वेक्षण में पूर्वी भारत में इनकी अनुमानित संख्या 78000-80000 आँकी गई है जो बहुत अधिक प्रतीत होती है। इतना कहा जा सकता है कि निकट भविष्य में इनके लुप्त हो जाने का कोई खतरा नहीं है, बशर्ते कि जंगलों की व्यवस्था सुचारु रूप से की जाए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि र्हीसस बन्दर, बोनोट बन्दर तथा हनुमान लंगूर को छोड़कर भारत में अन्य वानर जातियों की संख्या एवं विस्तार सीमित है। यदि इन वानरों को लुप्त होने से बचाना है, तो भविष्य में जंगलों की व्यवस्था सुचारू रूप से करनी होगी, जिससे इन वानरों को रहने के लिए सुरक्षित स्थान तथा खाने की कमी न हो।

कृतज्ञता ज्ञापन

लेखक भारतीय प्राणि सर्वेक्षण के निदेशक का उत्साहवर्धन एवं विभागीय सुविधाओं के लिए आभारी है। वह अपने लेख में श्री विनयकृष्ण टीकेदर द्वारा ली गई रंगीन तस्वीरों का प्रयोग करने हेतु उनका कृतज्ञ है।



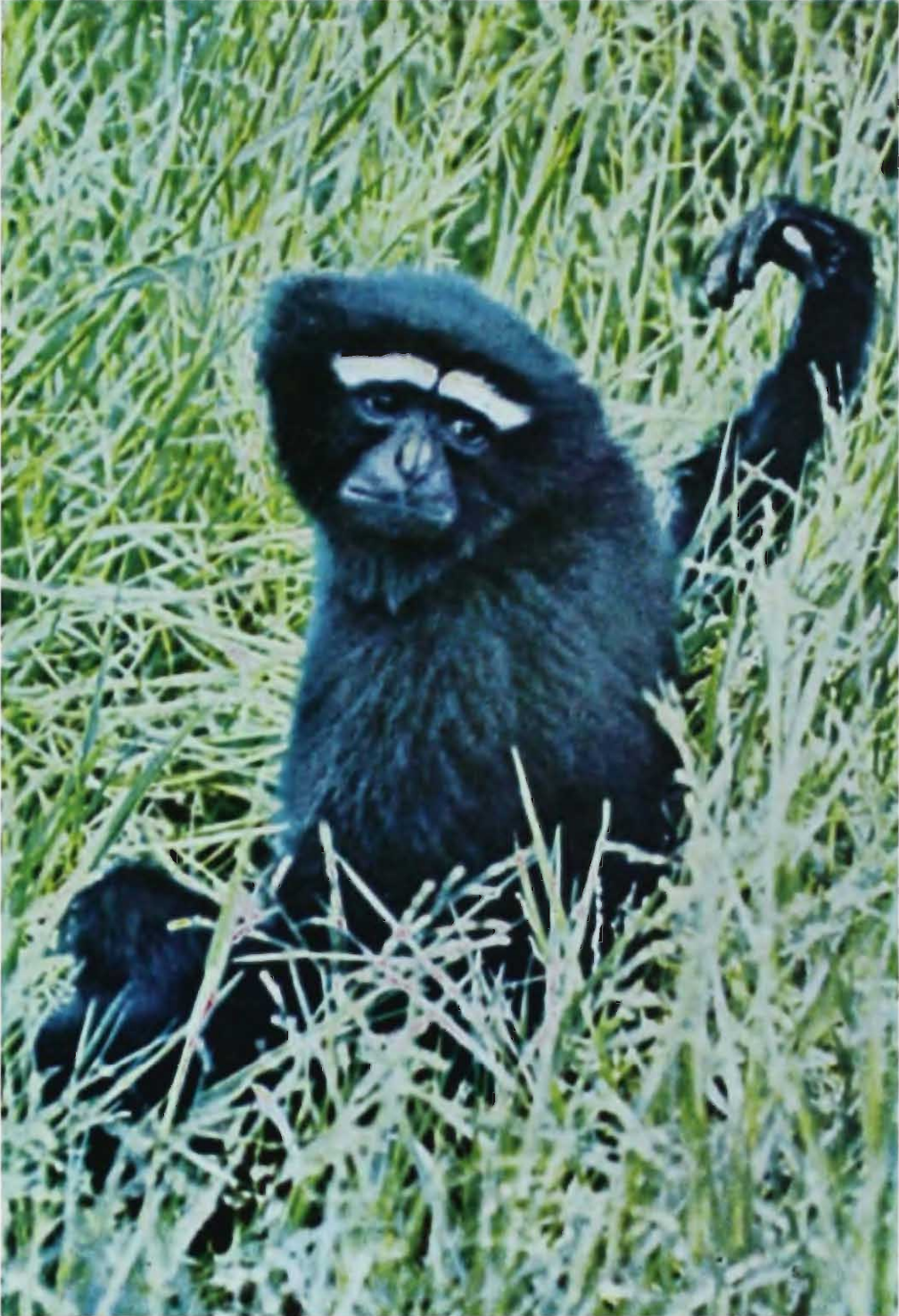
सूअर-पूँछीय बन्दर



टोपी वाले लंगूर



फायरे का लंगूर



हूलक (नर)

महाराष्ट्र राज्य के राष्ट्रीय उद्यान, पशुविहार एवं वन उद्यान

राधेश्याम शर्मा, डेविस सिंह,
मल्हार प्रधान एवं गुलाम मुहम्मद यजदानी

भारतीय प्राणि संवर्क्षण, पश्चिमी क्षेत्रीय केन्द्र, पुणे (महाराष्ट्र)

भूमिका

वन तथा वन्यजीव मानव के लिए अमूल्य निधि हैं, जिनका संरक्षण करना हमारा आद्य कर्तव्य है क्योंकि हमारा अस्तित्व ही उनपर निर्भर है। मनुष्य अन्य वस्तुओं का पुनर्निर्माण कर सकता है, किन्तु एक बार किसी वनस्पति अथवा प्राणी की जाति के लुप्त हो आनेपर उसका पुनर्निर्माण असंभव है। इसी निमर्गनियम तथा वन्यजीवों का रक्षण करने की सद्भावना से भारत सरकार ने सारे देश में राष्ट्रीय उद्यानों, पशुविहारों तथा वन-उद्यानों की स्थापना की हैं, जिसकी वजह से अनेक जातियाँ जो लुप्त होने जा रही थीं उनका बचाव संभव हो सका है। भारत वर्ष में राष्ट्रीय उद्यान का इतिहास लगभग 53 वर्ष पुराना है। 1935 में सर्वप्रथम हेली राष्ट्रीय उद्यान की स्थापना की गयी, जो कि आज कोरबेट राष्ट्रीय उद्यान के नाम से विख्यात है। इसके पश्चात् अबतक भारत सरकार ने विभिन्न राज्यों के प्राकृतिक रचनाओं, उनकी सुंदरता, ऐतिहासिक एवं पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों एवं वहाँ पायी जानेवाली वन्य एवं विशिष्ट प्राणि जातियों के आधार पर 55 राष्ट्रीय उद्यानों, 247 पशुविहारों तथा कई वन-उद्यानों की स्थापना की है।

महाराष्ट्र राज्य की प्राकृतिक रचना विभिन्न हैं जैसे पश्चिम की ओर समुद्रीतट, उससे मटी हुई सह्याद्री (पश्चिमी घाट) पर्वतों की विशालमय शृंखला, जो इस उपमहाद्वीप के दक्षिणी छोर पर महाराष्ट्र से लेकर कन्या-कुमारी तक फैली हुई है। यह घाट एक समय में विभिन्न प्रकार के उष्णकटिबंधीय वनमाती सदाहरित घने जंगलों से आच्छादित थे। इन घाटों

की वजह से भारी वर्षा से हुए पानी के दबाव तथा उनपर स्थित जंगलों से भूमि के कटाव को रोकने में मदद मिलती है और इसी जल को पूर्व की ओर बहनेवाली नदियों, जैसे गोदावरी, कृष्णा और कावेरी पर जगह-जगह बांध बनाकर दक्षिण में अर्धमरू-स्थलीय (सेमी अरिड) क्षेत्रों में सिंचाई की सुविधाओं का निर्माण हो सका है। इस राज्य के उत्तर में सतपुड़ा पर्वत (सात पहाड़ों की शृंखलाएं) और दक्षिण और पूर्व में दक्षिणी पठार स्थित है। इन पर्वतों पर स्थित विभिन्न प्रकार के जंगल और यहां की वनसंपदा अनोखी एवं बहुतायत है। इस प्रदेश की प्राकृतिक रचना में विभिन्नता होने के कारण यहां पायी जानेवाली वनस्पति एवं प्राणियों की जातियां भी विशिष्ट हैं। यहां करीब 1200 वनस्पतियों की जातियां तथा 3500 प्रजातियां पायी जाती हैं। यहां प्राणि जगत के स्तनधारी प्राणियों की 85, पक्षियों की 459, रेंगनेवाले जंतुओं की 87, तथा जलस्थलचरों की 22 जातियां भी मिलती हैं। 'बाघ' या 'शेर' जो राष्ट्रीय प्राणी और बहुचर्चित है तथा जिसके संरक्षण के लिए काफी कुछ किया जा रहा है, मुख्यतः इस राज्य में विदर्भ विभाग के सागवान तथा बांस के जंगलों में पाया जाता है। यहां एक 'प्राजेक्ट टायगर' (व्याघ्र प्रकल्प) चलाया जा रहा है जिसकी वजह से इस क्षेत्र के बाघों की संख्या में वृद्धि हो गई है।

भौगोलिक विभिन्नता, ऐतिहासिक महत्व तथा प्राणियों की विशिष्टताओं को ध्यान में रखते हुए महाराष्ट्र राज्य में अबतक 4 राष्ट्रीय उद्यानों, 21 वन्य पशुविहारों, 3 गेम रिजर्व, 1 व्याघ्र प्रकल्प तथा 32 वन-उद्यानों की स्थापना की गई है (कृपया मानचित्र देखें)। इन राष्ट्रीय उद्यानों एवं पशुविहारों में विचरण करनेवाले सभी वन्यजीवों तथा वनों का संपूर्ण संरक्षण, देखभाल, रख रखाव तथा उनकी संख्या में वृद्धि करने हेतु राज्य के वन विभाग की ओर से पर्याप्त उपाय किए जाते हैं। पर्यटकों के लिए इन वन्यजीवों का अवलोकन करने हेतु विविध सुविधाएं भी उपलब्ध हैं।

(क) राष्ट्रीय उद्यान

(1) संजय गांधी राष्ट्रीय उद्यान, बोरीवली: यह राष्ट्रीय उद्यान ठाणे जिला तथा बम्बई के उपनगर बोरीवली में स्थित है, जो बम्बई से केवल 40 कि. मी. उत्तर की ओर है। उद्यान का क्षेत्र अक्षांश $19^{\circ} 8'$ से $19^{\circ} 21'$ उत्तर और देशांश $72^{\circ} 53'$ और $72^{\circ} 58'$ पूर्व के मध्य में स्थित है। इस उद्यान का कुल क्षेत्र 103.09 वर्ग कि. मी. है, जिसमें से 86.96 वर्ग कि. मी. क्षेत्र सन् 1983 में राष्ट्रीय उद्यान घोषित कर के इसे नैसर्गिक

आरक्षित क्षेत्र के उद्देश्य से विस्तारित किया जा रहा है। इस राष्ट्रीय उद्यान की बहुतांश भूमि प्रदेश पर्वती एवं पहाड़ी है, और इसको तीन हिस्सों में बांटा गया है (1) नैसर्गिक आरक्षित क्षेत्र, (2) मनोरंजन तथा शैक्षणिक क्षेत्र, (3) प्रशासकीय क्षेत्र।

इस उद्यान के जंगल मुख्यतः दो प्रकार के हैं—एक तो दक्षिणी भारत के नम पतझड़ वाले और दूसरे अर्धसदाहरित वन जो पहले प्रकार के वनों में मिश्रित हैं। और एक विशिष्ट प्रकार के वन हैं जो खाड़ी के आसपास पाये जाते हैं, जिन्हें खाड़ी के जंगल तथा 'मेनग्रोव' कहा जाता है, जिनके नमकीन जल में बढ़ने की क्षमता होती है और ज्वार-भाटा का इनपर कोई-विपरीत परिणाम नहीं होता। इस उद्यान में करीब 88 बड़े वृक्षों की, 38 छोटे वृक्षों की, 24 घासों की तथा अनेक जड़ी बूटीओं की जातियां प्रजातियां पायी जाती हैं। इस उद्यान का पशुवर्ग बहुतायत है, यहां 42 स्तनधारी प्राणियों की, 251 पक्षियों की (प्रवासी तथा जलाशयों के आसपास मिलनेवाले पक्षियों को मिलाकर), 38 रेंगनेवाले तथा 9 जलस्थलचर प्राणियों की जातियां पायी जाती हैं। यह उद्यान 'पक्षीनिरीक्षकों' के लिए निश्चित ही अच्छी जगह है। इस उद्यान के क्षेत्र में दो झीलें हैं, तुलसी और विहार, जिनकी वहज से यह उद्यान ज्यादा रमणीय हो गया है। इन झीलों में मगर पाया जाता है। इन झीलों के आसपास की घनी और हरीभरी झाड़ी में विचरण करने वाले पक्षियों की मधुर और सुरीली आवाजें वातावरण को उत्साहित करती है तथा इन जंगलों की रंग-बिरंगी तितलियां ध्यान अवश्य आकृष्ट कर लेती हैं। उद्यान का मनोरंजन तथा शैक्षणिक क्षेत्र, जिसे कृष्णगिरी उपवन कहा जाता है, में पर्यटकों के लिए विभिन्न प्रेक्षणीय स्थल हैं तथा मनोरंजन की सुविधाएं उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा।

(i) कान्हेरी गुफाएं: यह गुफाएं उद्यान की सबसे ऊंची चोटी पर और घने जंगलों के मध्य में स्थित हैं। यह गुफाएं 900 ईसवी पूर्व की हैं। इसकी देखभाल भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग करता है। इन गुफाओं में कुल 109 अलग अलग कमरे हैं जिसे 'विहार' कहा जाता है। इन विहारों में योगी, भिक्षुक अपना तपस्वी जीवन बिताया करते थे। इन गुफाओं की छतपर (भीतर की ओर) चमगादड़ (बैट) की एक जाति निवास करती है, जिसकी किलकिलाहट से आप जरूर मनोरंजित होंगे। इन्हीं गुफाओं के आसपास बॉनेट बंदरों के समूह भी रहते हैं। इन गुफाओं के आसपास की पहाड़ियों से निकले झरनों में पर्वतीय मछलियां भी पायी जाती हैं।

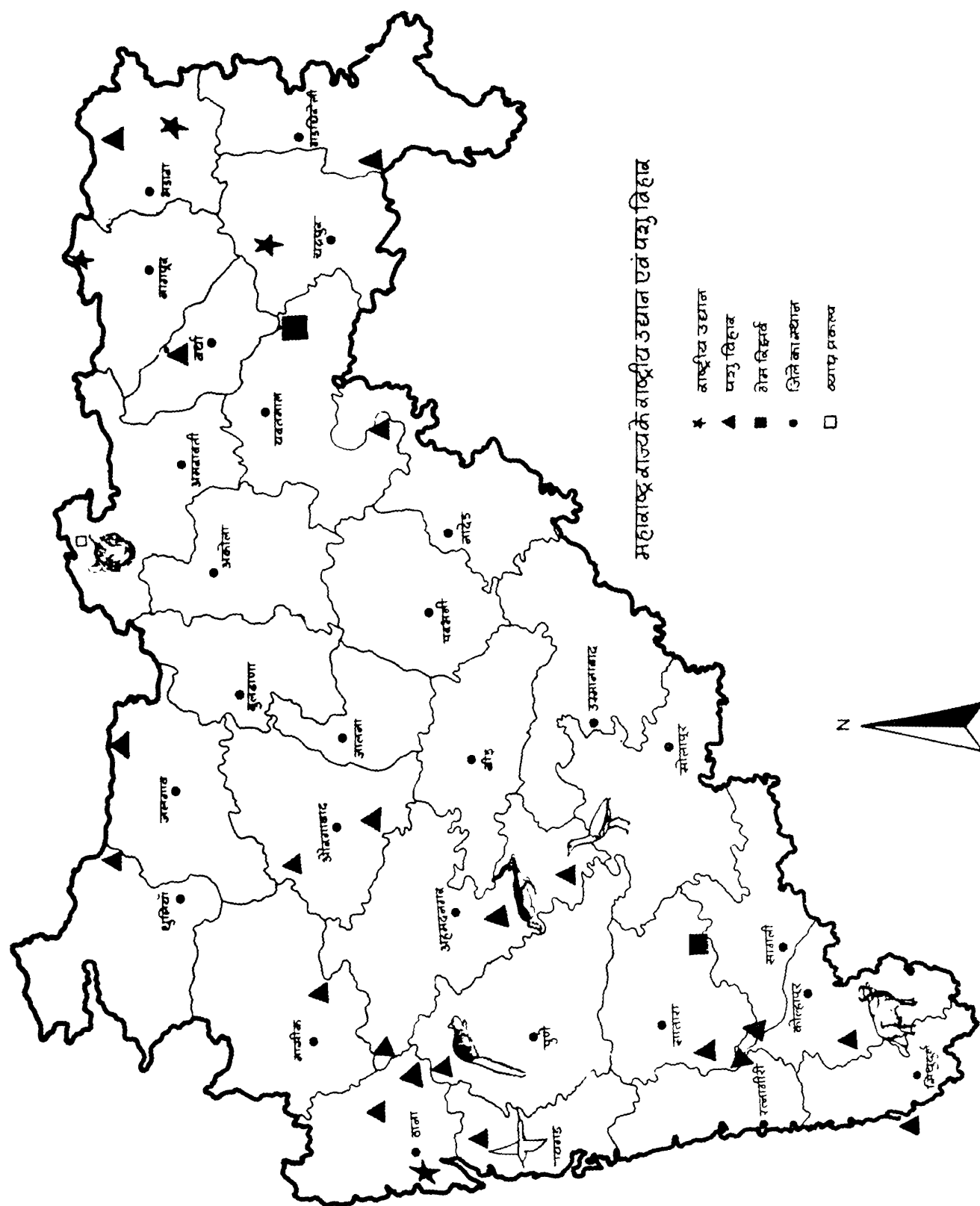
(ii) **महात्मा गांधी स्मारक** : यह स्मारक कृष्णगिरी उपवन के पूर्वी हिस्से में 50 मीटर की ऊंची चट्टान पर बनाया गया है जहां से आसपास के प्रदेश का लुभावना दृश्य देखा जा सकता है। इस स्मारक के क्षेत्र को विभिन्न रंगीन फूलों के पेड़ों से सुशोभित किया गया है तथा आसपास की सारी जमीन पर हरी भरी महीन घास उगाकर उसे ज्यादा शोभनीय बनाया गया है।

(iii) **बच्चों की रेलगाड़ी (वनराणी)** यह रेलगाड़ी उद्यान के बड़े आकर्षणों में से एक है। इस रेल यात्रा का आनंद सिर्फ बच्चे ही नहीं किन्तु बड़े भी ले सकते हैं। इस यात्रा के दौरान रेल मार्ग के आसपास बने हिरण उद्यान, तेंदुओं का घेरा, पिंजरों में रखे गये अन्य प्राणी तथा हरीत वनों का बहारदार दृश्य भी देख सकते हैं।

(iv) **मुक्त विहार सिंह उद्यान** : यह इस उद्यान का प्रमुख आकर्षण है। इसकी स्थापना सन् 1975-76 में की गई थी। इस मुक्त विहार का निर्माण आधुनिक प्राणि संग्रहालय बनाने की ओर पहला कदम था, जिसका मुख्य उद्देश्य पर्यटकों को सिंहों के नैसर्गिक क्षेत्र में अवलोकन करने का अवसर प्रदान करना है। इसी उद्देश्य से करीब 12 हेक्टर भूमि के पहाड़ी तथा घने झाड़ी के इलाके में 6.5 मीटर ऊंचे जालीदार तार लगाकर उनमें सिंहों को मुक्त छोड़ा गया है। इस सीमित क्षेत्र में पर्यटकों को मिनी बस द्वारा लाया जाता है। बस का रास्ता इस प्रकार बनाया गया है कि दर्शक सिंहों को सुविधापूर्वक देख सकते हैं।

उद्यान के क्षेत्र से निकलनेवाली दहिसर नदी के पानी को रोक कर एक जलाशय बनाया गया है जहां नौका विहार की सुविधाएं उपलब्ध हैं। उद्यान के प्रशासकीय क्षेत्र में बने सूचना केन्द्र से आवश्यक जानकारी प्राप्त हो सकती है। उद्यान के भीतर विश्रामगृह भी है, जिसका पूर्व आरक्षण विभागीय व्यवस्थापक, संजय गांधी राष्ट्रीय उद्यान, बोरीवली (पूर्व), बम्बई, द्वारा किया जाता है।

(2) **नवेगांव राष्ट्रीय उद्यान** : यह राष्ट्रीय उद्यान भंडारा जिले में स्थित है। इसे सन् 1975 में राष्ट्रीय उद्यान घोषित किया गया। उद्यान का क्षेत्र अक्षांश $21^{\circ}20'$ से $21^{\circ}24'$ उत्तर और देशांश $80^{\circ}21'$ और $80^{\circ}30'$ पूर्व के मध्य में स्थित है। इस उद्यान का क्षेत्रफल 134 वर्ग कि. मी. है जिसमें मिश्रित पतझड़ वाले घने जंगल है। इसी उद्यान के इलाके में नवेगांव और इतीयाडोह नाम के दो सरोवर हैं। यहां का क्षेत्र विभिन्न ऊंचाई की पहाड़ियों से युक्त है, जिनमें सबसे ऊंची 'अंबाझार' चोटी है। इस उद्यान में



विभिन्न प्रकार के पक्षी, बाघ, तेंदुआ, तरस, गौर, कोला, लोमड़ी, चौसींघा, नील गाय, सांभर, चीतल और हिरण काफी संख्या में पाये जाते हैं। इस उद्यान से नज़दीक का शहर और रेलमार्ग गोंदिया है जो सिर्फ 60 कि. मी. दूरी पर है। हवाई अड्डा नागपुर में है जो यहां से 130 कि. मी. की दूरी पर है। अधिक जानकारी के लिए उपवनसंरक्षक (वन्यजीव) नागपुर से संपर्क किया जा सकता है तथा वहां रहने के लिए विश्रामगृह की व्यवस्था भी है जिसका पूर्व आरक्षण किया जा सकता है।

(3) **पेंच राष्ट्रीय उद्यान** : यह राष्ट्रीय उद्यान नागपुर जिले में अक्षांश $21^{\circ}42'$ से $21^{\circ}46'$ उत्तर और देशांश $79^{\circ}20'$ और $79^{\circ}30'$ पूर्व के मध्य में स्थित है। नागपुर से यह स्थान केवल 56 कि. मी. उत्तर की ओर है। इसका कुल क्षेत्रफल 256 वर्ग कि. मी. है। यह उद्यान सतपुड़ा की पर्वत शृंखलाओं में स्थित है, जिसके आरक्षित क्षेत्र का फैलाव मध्यप्रदेश के करीब 700 वर्ग कि. मी. तक है जहां उस क्षेत्र को पशुविहार तथा उद्यान का दर्जा प्राप्त है। इस क्षेत्र को पेंच नदी ने उत्तर दक्षिण ऐसे दो हिस्सों में बांट दिया है। उद्यान के बहुतांश क्षेत्र में मिश्रित पतनशील वन पाये जाते हैं; साथ ही कुछ घाटियों में खुले चरागाह भी हैं। यहां बाघ, तेंदुआ, तरस, कोला, लोमड़ी, चीतल, सांभर, फाकर, गौर, भालू आदि जानवर देखे जा सकते हैं। सभी प्रकार के पक्षी इस उद्यान में पाये जाते हैं। इस उद्यान के लिए नज़दीक का शहर, रेल तथा हवाई मार्ग नागपुर ही है। अधिक जानकारी विभागीय वन अधिकारी तथा वनसंरक्षक, नागपुर से पायी जा सकती है। पर्यटकों के लिए विश्रामगृह की व्यवस्था है जिसका पूर्व आरक्षण किया जा सकता है।

(4) **ताडोबा राष्ट्रीय उद्यान** : सन् 1935 में इसे रिजर्व के रूप में स्थापित किया गया था और सन् 1955 में इसको राष्ट्रीय उद्यान घोषित किया गया। इस उद्यान का क्षेत्रफल लगभग 117 वर्ग कि. मी. है और यह चंद्रपुर जिले में अक्षांश $20^{\circ}20'$ से $20^{\circ}22'$ उत्तर और देशांश $79^{\circ}23'$ और $79^{\circ}25'$ पूर्व के मध्य में स्थित है। यहां बाघ, तेंदुआ, भालू, तरस, लोमड़ी, कोला, जंगली सुअर, चीतल, सांभर, फाकर, नील गाय, गौर, ढोल (जंगली कुत्ता) आदि जानवर देखने को मिलते हैं। इस उद्यान के लिए नज़दीक का शहर तथा रेलमार्ग चंद्रपुर है जिसकी दूरी सिर्फ 45 कि. मी. है। हवाई अड्डा नागपुर में है जो यहां से करीब 158 कि. मी. दूरी पर है। अधिक जानकारी तथा विश्रामगृह का पूर्व आरक्षण विभागीय वनअधिकारी ताडोबा राष्ट्रीय उद्यान, चंद्रपुर से प्राप्त हो सकता है।

(ख) वन्य पशुविहार

राज्य में 21 पशुविहार हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन निम्नप्रकार है—

(i) **यावल पशुविहार** : यह पशुविहार जलगांव जिले में स्थित है। इसका क्षेत्रफल 177.52 वर्ग कि. मी. है। यहां के जंगल उष्णकटिबंधीय शुष्क पतनशील प्रकार के हैं और उनमें विशेषतः बाघ, तेंदुआ, जंगली कुत्ते, हायना, जंगली बिल्ली, चीतल, चिकारा, मोर, कई तरह के तीतर आदि प्राणी पाये जाते हैं।

(ii) **राधानगरी पशुविहार** : यह पशुविहार कोल्हापुर जिले में स्थित है। इसका कुल क्षेत्रफल 371.88 वर्ग कि. मी. है। यह पशुविहार गौर (जंगली भैंसा) के संरक्षण के लिए स्थापित किया गया है। यहां अन्य जानवरों में तेंदुआ, सांभर, हिरण आदि पाये जाते हैं।

(iii) **रेहकुरी पशुविहार** : यह अहमदनगर जिले में स्थित है और कृष्णमृग (ब्लैक बक) के संरक्षण के लिए स्थापित किया गया है। इसका क्षेत्रफल 2.17 वर्ग कि. मी. है। यहां हिरण की अन्य जातियां भी देखने को मिलती हैं।

(iv) **नानज पशुविहार** : यह भी ऊपर निर्देशित पशुविहार से जुड़ा हुआ है, और यहां तुकदार या हुकना (ग्रेट इंडियन बस्टर्ड) जाति के पक्षी पाये जाते हैं जो स्थानीय विभिन्न क्षेत्रों में प्रवास करते हैं। यहां का भूमिप्रदेश कुछ पहाड़ी है, और घास तथा छोटी छोटी कंटेली वनस्पतियों से आच्छादित रहता है। इसका कुल क्षेत्रफल 7818.47 वर्ग कि. मी. है।

(v) **कर्नाला पशुविहार** : यह पशुविहार रायगढ़ जिले में स्थित है और विशेषतः प्रवासी एवं अन्य पक्षियों के लिए बनाया गया है। इसका क्षेत्रफल 4.48 वर्ग कि. मी. है। यहां विभिन्न प्रकार के पक्षी देखे जा सकते हैं। इसके इलाके में कई स्थान ऐसे हैं जहां वर्षभर पानी जमा रहता है (वेटलैन्ड), जो पक्षियों के लिए उपयोगी होता है।

(vi) **तानसा पशुविहार** : यह ठाणे जिले में स्थित है। यहां उष्णकटिबंधीय नमीवाले और पतनशील प्रकार के जंगल हैं। पशुविहार के इलाके में एक सरोवर है। इसलिए जलाशयों के आसपास मिलनेवाले सभी प्रकार के पक्षी, तेंदुआ, सांभर, हिरण आदि जानवर पाये जाते हैं। इसका कुल क्षेत्रफल 304.81 वर्ग कि. मी. है।

(vii) **नागझिरा पशुविहार** : भंडारा जिले में स्थित है और इसका कुल क्षेत्रफल 152.81 वर्ग कि. मी. है। यहां मागवान के जंगलों में बाघ, तेंदुआ, गौर, गीछ (भालू), सांभर, चौंसिंगा, नीलगाय आदि प्राणी तथा जंगली मुर्गी और अन्य कई प्रकार के पक्षी पाये जाते हैं।

(viii) **बोर पशुविहार** : यह वर्धा जिले में स्थित है और इसका कुल क्षेत्र 61.10 वर्ग कि. मी. है। यहां कभी कभी बाघ दिखाई पड़ता है। यहां आमतौर पर भालू, सांभर, चोतल, चौंसिंगा, नीलगाय आदि जानवर पाये जाते हैं।

(ix) **भीमाशंकर पशुविहार** : भीमाशंकर भारत के बारह ज्योतिर्लिंगों में से एक है। यह पवित्र स्थान सह्याद्री पर्वतों के ऊंचे पहाड़ों और पुणे जिले में स्थित है। यह पवित्र वाटिका सदाहरीत और नमीवाले पतनशील घने जंगलों से घिरी है, जिसमें विभिन्न प्रकार के वन्यजीव पाये जाते हैं। इसका कुल क्षेत्रफल 130.78 वर्ग कि. मी. है और इसकी स्थापना यहां पायी जानेवाली विशिष्ट जाति की भारतीय विशाल गिलहरी (इंडियन जायन्ट स्क्वीगल) के संरक्षण के लिए की गई है। इस पशुविहार की विशेषता यह है कि इसका अधिकांश क्षेत्र पर्वतीय है। यहां के विहंगम तथा लुभावने दृश्यों का आनन्द पर्यटक ले सकते हैं। यहां तेंदुआ, सांभर, हरिण, खरगोश आदि जानवर मिलते हैं। यहां वनविभाग तथा राज्य के पर्यटन विभाग का विश्रामगृह है जिसे पूर्व आरक्षित किया जा सकता है।

(x) **किनवट (पैनगंगा) पशुविहार** : यह पशुविहार नांदेड एवं यवतमल जिलों के इलाके में स्थित है और इसका कुल क्षेत्र 324.62 वर्ग कि. मी. है। यहां का भूमिप्रदेश पहाड़ी है, और घने जंगलों से घिरा हुआ है। पैनगंगा नदी इस पशुविहार को दो हिस्सों में बांटती है। यहां बाघ, तेंदुआ, भालू, जंगली सूअर, सांभर, हरिण, चिकारा आदि जानवर पाये जाते हैं।

(xi) **कलसुबाई हरिचन्द्र गढ़ पशुविहार** : यह जिला अहमदनगर में स्थित है, इसका क्षेत्रफल 361.81 वर्ग कि. मी. है। इसमें चोतल, सांभर, हिरण आदि जानवर पाये जाते हैं।

(xii) **पनसड पशुविहार** : यह ठाणे जिले में स्थित है, इसका क्षेत्रफल 69.79 वर्ग कि. मी. है। यहां तेंदुआ, सांभर, जंगली सूअर, हिरण आदि जानवर पाये जाते हैं।

(xiii) **नांदुर मधमेश्वर पशुविहार** : यह जिला नासिक में स्थित है। इसका क्षेत्र 100.12 वर्ग कि. मी. है। यह विशेषकर पक्षियों तथा अन्य वन्य जीवों के लिए स्थापित किया गया है।

(xiv) **कोयना पशुविहार** : यह जिला सातारा में स्थित है। यह इलाका कोयना घाटी के नाम से जाना जाता है। इसका क्षेत्रफल 423.55 वर्ग कि. मी. है। यहां के घने जंगलों में तेंदुआ, गौर, सांभर, चीतल, हिरण, जंगली सूअर तथा विभिन्न प्रकार के पक्षी पाये जाते हैं।

(xv) **अंधेरी पशुविहार** : यह चंद्रपुर जिले में स्थित है। इसका क्षेत्रफल 509.27 वर्ग कि. मी. है।

(xvi) **औताला औट्रम घाट पशुविहार** : यह औरंगाबाद जिले के पहाड़ी इलाके में स्थित है। इसका क्षेत्रफल 260.61 वर्ग कि. मी. है। यहां चीतल, हिरण, खरगोश, आदि जानवर पाये जाते हैं।

(xvii) **चपराला पशुविहार** : यह गड़चिरोली जिले में स्थित है। इसका क्षेत्रफल 134.78 वर्ग कि. मी. है। इस इलाके में राज्य की सबसे ज्यादा वर्षा होती है। यहां के घने जंगलों में कई वन्य जीव पाये जाते हैं।

(xviii) **चांदोली पशुविहार** : इस पशुविहार का क्षेत्र सातारा, सांगली, रत्नागिरी एवं कोल्हापुर जिलों में फैला हुआ है, जिससे इसकी भौगोलिक विशेषता का अंदाज लगता है। इसका कुल क्षेत्रफल 308.97 वर्ग कि. मी. है। यहां तेंदुआ, गौर, सांभर, हिरण, चीतल और अन्य पशु-पक्षी पाये जाते हैं।

(xix) **जायकवाडी पशुविहार** : यह औरंगाबाद जिले में स्थित है। गोदावरी नदी पर बना एक बड़ा बांध है। इस पशुविहार को प्रवासी तथा जलाशयों के आसपास मिलनेवाले पक्षियों के संरक्षण के लिए स्थापित किया गया है। अतः यहां विभिन्न प्रकार के पक्षी देखने को मिलते हैं। इसका क्षेत्रफल 341.05 वर्ग कि. मी. है।

(xx) **अनेर डॅम पशुविहार** : यह जिला धुलिया में स्थित है। इसका क्षेत्रफल 82.94 वर्ग कि. मी. है। इस बांध के आसपास कई प्रवासी तथा विभिन्न पक्षी तथा अन्य जंगली जानवर भी पाए जाते हैं।

(xxi) **मालवण समुद्री पशुविहार** : यह पशुविहार पश्चिमी तटपर स्थित सिंधुदुर्ग जिले के मालवण तालुका में है। यह नवीनतम प्रयास है जिसे समुद्री

प्राणियों के संरक्षण हेतु बनाया गया है। इसका कुल क्षेत्रफल 29.12 वर्ग कि. मी. है। इसमें कई प्रकार के समुद्री जीवजन्तु पाये जाते हैं।

(ग) गेम रिजर्व

राज्य में निम्नलिखित 3 गेम रिजर्व हैं—

- (i) सागरेश्वर : जो सांगली जिले में स्थित है, और इसका क्षेत्रफल 10.87 वर्ग कि. मी. है।
- (ii) टिपेश्वर : जो यवतमाल जिले में स्थित है, जिसका क्षेत्रफल 224.52 वर्ग कि. मी. है।
- (iii) मायनी : यह सातारा जिले में स्थित है, और इसका क्षेत्रफल 4.32 वर्ग कि. मी. है।

(घ) मेलघाट व्याघ्र प्रकल्प (प्रॉजेक्ट टायगर)

राज्य में 'बाघ'/शेर के संरक्षण के लिए यह परियोजना चलायी जा रही है। इसका कुल क्षेत्र 1597.23 वर्ग कि. मी. है। यह अमरावती जिले में परतवाड़ा के करीब है। 1982 में की गयी गणना के मुताबिक बाघों की संख्या इस इलाके में 69 है।

(च) वन-उद्यान

राज्य में निम्नलिखित 32 वन-उद्यान, स्थानों के ऐतिहासिक महत्व को ध्यान में रखते हुए घोषित किए गए हैं, जिनकी देखभाल वनविभाग करता है—

अ. क्र.	वन-उद्यान का नाम	जिले का नाम
1.	अजंता की गुफाएँ	औरंगाबाद
2.	जायकवाडी (पैठण) अनौपचारिक पवित्र वृक्षवाटिका	औरंगाबाद
3.	हिमायत बाग	औरंगाबाद
4.	पंडित नेहरू उद्यान (शांतिघाट, बहादुरपुरा)	नांदेड
5.	सेमीनरी हिल	नागपुर

अ. क्र.	वन-उद्यान का नाम	जिले का नाम
6.	पाल	जलगांव
7.	तोरणमाल	धूलिया
8.	बनेश्वर	पुणे
9.	मिहगढ़	पुणे
10.	पांचगांव पर्वती	पुणे
11.	भांबुर्डी	पुणे
12.	मुल मुठा	पुणे
13.	चिखलदरा	अमरावती
14.	राणीबाग	बुलढाणा
15.	तबकबाग	कोल्हापुर
16.	प्रतापसिंह	सातारा
17.	प्रतापगढ़	सातारा
18.	आंबोली	सिंधुदुर्ग
19.	एलीफन्टा	रायगढ़
20.	माथेरान	रायगढ़
21.	वज्रेश्वरी	ठाणे
22.	अर्नाला	ठाणे
23.	शिवनेरी	पुणे
24.	बुलढाणा उद्यान	बुलढाणा
25.	लोणार क्रेटर उद्यान	बुलढाणा

अ. क्र.	वन-उद्यान का नाम	जिले का नाम
26.	नरेंद्र हिल	सिंधुदुर्ग
27.	अलटैहत कलंगले	कोल्हापुर
28.	दांडोबा हिल	सांगली
29.	गंगापुर	नासिक
30.	सप्तशृंगी	नासिक
31.	पाटणादेवी	जलगांव
32.	एल्दरी	परभणी

इन राष्ट्रीय उद्यानों, पशुविहारों, एवं वन उद्यानों का पर्यावरण के संतुलन को बनाये रखने में अत्यधिक महत्व है जिसे भुलाया नहीं जा सकता। हम सबका यह कर्तव्य है कि वन्यजीवों पर होनेवाले अत्याचार तथा वनों की बेहिसाब कटाई पर रोक लगानेवाली राष्ट्रीय परियोजनाओं में सहयोग दें, ताकि भविष्य में आनेवाली पीढ़ियों के लिए हम इस संपदा को बचाकर रख सकें।

आभार ज्ञापन

लेखकगण, निदेशक, भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता के आभारी हैं जिनकी अनुमति और सुविधा से यह कार्य हो सका। हम वन विभाग, महाराष्ट्र राज्य के अधिकारियों के भी आभारी हैं जिन्होंने सम्बन्धित जानकारी उपलब्ध करायी।

संदर्भ

- मुखर्जी, अ. कु. 1982. एनडेनजर्ड अनीमल्स ऑफ इंडिया (अंग्रेजी में)।
भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता से प्रकाशित।
- टिकादर, वि. कृ. 1983. थ्रेटिन्ड अनीमल्स ऑफ इंडिया (अंग्रेजी में)।
भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता से प्रकाशित।

कीड़ों से लाख

राजेन्द्र कुमार वाष्णेय

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता

लाख क्या है? लाख एक प्रकार का गोंद जैसा पदार्थ है, जो कि कुछ पेड़ों की टहनियों पर उत्पन्न होता है। इसे चपड़ा, लाहा या शैलेक भी कहते हैं। महाभारत में कौरवों द्वारा पांडवों के विनाश के उद्देश्य से एक 'लाक्षा गृह' बनाने का वर्णन है। वही लाक्षा अब लाख अथवा लाह के नाम से जानी जाती है।

लाख एक विशेष प्रकार के कीड़ों से ही उत्पन्न होती है, जिन्हें लाख के कीड़े कहते हैं। यह कीड़े पेड़ पौधों पर पनपते हैं। इन कीड़ों का तुरन्त पैदा हुआ बच्चा (लार्वा) तो इतना छोटा होता है कि आप उन जैसे 10-15 को एक आलपिन के सिर पर रख सकते हैं। पेड़ों की हरी टहनियों पर लगभग एक वर्ग इंच स्थान में करीब 200 लाख के कीड़ों के बच्चे चिपक जाएंगे। इतने छोटे होते हैं, और इस प्रकार सट सट कर ये पाये जाते हैं। कहते हैं कि पेड़ों पर इनकी इतनी अधिक संख्या को देख कर ही किसी ने कह दिया कि ये तो एक लाख कीड़े होंगे। शायद इसी से इनका नाम 'लाख' पड़ गया। 'लाक्षा' भी संस्कृत में लाख को ही कहते हैं।

लाख के कीड़े का पता सबसे पहले भारतवर्ष में ही चला था। सन 1710 में एक पादरी टैकार्ड ने इन कीड़ों को मद्रास के आसपास पेड़ों पर लगा देखा था। बाद में सन 1782 में अंग्रेज वैज्ञानिक जेम्स कैर ने अध्ययन कर इनका नाम *कौक्कस लैक्का* रखा। आजकल कीड़ों की इस जाति का नाम *कैरिया लैक्का* है, जो मैंने प्रस्तावित किया है और प्राणियों के नामकरण की अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन के अनुमोदन पर 1966 में प्रकाशित किया था। इन कीड़ों के वंश या परिवार को टैकारडीडी कहते हैं।

लाख के कीड़े भारतीय उपमहाद्वीप के सभी देशों में खूब होते हैं। बाहर ये दक्षिण पूर्व एशिया के अन्य देशों में भी पाये जाते हैं। दक्षिणी चीन में भी इनका उत्पादन होता है। विश्व में सबसे ज्यादा लाख का उत्पादन भारत में होता है और उसके बाद थाईलैंड में होता है।

भारत में लाख सबसे अधिक बिहार के छोटा नागपुर क्षेत्र में पैदा की जाती है। अर्थात् दक्षिण बिहार के राँची, सिंहभूम, पलामू, धनबाद, संथाल पगना, हजारीबाग जिलों में। बिहार के अन्य जिलों में भी लाख होती है, और बिहार के बाहर पश्चिम बंगाल, असम, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर इलाके, तथा देश के अन्य प्रान्तों में भी लाख पैदा होती है। राजस्थान में कम होती है। मुख्यतः मैदानी इलाकों और 2 से 4 हजार फीट तक ऊँचाई वाले इलाकों में इसका उत्पादन होता है।

लाख का कीड़ा कुछ खाम पेड़-पौधों पर ही पनपता है, जैसे पलाश या ढाक, कुसुम, बेर घोंट, बबूल, खैर, भलिया आदि। इन सब पर लाख का उत्पादन सफलता से किया जा सकता है। लाख के कीड़े पीपल, बरगद या बड़, लीची आदि वृक्षों पर भी पनपते हैं, लेकिन इन पर उत्पादन नहीं किया जाता। करीब 400 प्रकार के पौधों पर लाख का कीड़ा देखा गया है। लेकिन यह नहीं कि लाख सभी पेड़-पौधों पर मिल जाय, जैसे कि कुरी (लेन्टाना) या अमलताश पर नहीं होती। उत्पादन के उद्देश्य से करीब 10 प्रकार के पेड़-पौधे ही उपयुक्त हैं जैसे ऊपर लिखे पलाश, कुसुम आदि। दक्षिण भारत में जल्लरी पेड़ भी उपयुक्त है। उत्तर-पूर्वी राज्यों में अरहर या तूर पर भी लाख उत्पादन होता है।

लाख का उत्पादन मुख्यतः वन विभाग करता है क्योंकि उन्हीं के पास वृक्षों की काफी संख्या होती है। परन्तु बिहार में अनुसूचित जन जाति के लोग लाख उत्पादन में व्यवसाय के तौर पर लगे हुए हैं।

लाख का उत्पादन कैसे होता है? प्रति वर्ष दो बार लाख के कीड़ों के बच्चे निकलते हैं। एक बार मई-जून में, फिर दूसरी बार अक्टूबर-नवम्बर में। यानी एक जीवनचर्या बरसात के दिनों वाली 4 महीने चलती है, तथा दूसरी जाड़ों के पहले शुरू होकर गर्मियों तक 8 महीने चलती है। एक के पश्चात् दूसरी जीवनचर्या चलती रहती है। कुसुम के पेड़ों पर यह मई-जून तथा जनवरी-फरवरी में बदलती है।

लाख उत्पन्न करना चाहते हैं तो एक सही पेड़ को चुनिये। जैसे पलाश या बेर। ऊपर लिखे महीनों के समय में उस पेड़ की नरम टहनियों के पास,

लाख की उन छोटी-छोटी टहनियों को बाँध दीजिये जिन पर पहले से लाख लगी थी तथा अब बच्चे निकल रहे होते हैं। यह बच्चे स्वतः ही अपनी टाँगों से चलकर अथवा हवा से उड़कर, आपके पेड़ की नरम हरी टहनियों (डालियों) पर बैठ जाएँगे। उनके वहाँ लगते ही वे अपने मुई जैसे पतले मुख से पौधों का रस चूसने लगेंगे। उसी स्थान पर वह बच्चे बड़े होने लगेंगे। करीब 2 महीने के समय में वे वयस्क नर या मादा बन जाएँगे तब नर कीड़े अपने खोल से निकल कर मादा से संभोग कर लेंगे और मर जाएँगे। अब कीड़ों की इस पूरी फसल में केवल मादा लाख के कीड़े रह जाएँगी। यह भोजन चूसती रहेंगी, और इन्हीं के ऊपर इनके शरीर से निकला लमलमा लाख जमा होता जाएगा। जीवनचर्या पूरी होने से लगभग 15 दिन पहले लाख के खोल पर एक पीला भाग प्रकट होता है, जो आकार में बढ़ता जाता है। उसी के साथ-साथ लाख से नये बच्चों का बाहर निकलना शुरू हो जाता है। अपनी जीवनचर्या पूरी होने पर मादा वहीं मर जाएगी, परन्तु मरने से पहले प्रत्येक मादा करीब 200 से 600 तक बच्चे पैदा करती है। ये बच्चे बाहर निकल कर नई टहनियों पर फैल जाएँगे। और इस प्रकार लाख के कीड़े एक नई फसल की शुरुआत करेंगे (देखें चित्र)।

लाख का व्यवसाय करने के लिये लाख की फसल पूरी होने पर टहनियों को काट लेते हैं। कुछ टहनियाँ तो नई फसल के उत्पादन के लिये, बीज के रूप में, अन्य पेड़ों पर लगा देते हैं। ऐसी टहनियों को 'ब्रूड लैक' कहते हैं। शेष सारी टहनियों (स्टिक लैक) को छील लेते हैं। छील कर लकड़ी को अलग कर देते हैं। छिली हुई लाख को 'सीड लैक' कहते हैं। बिहार में गांवों की मन्डी-हाट में या पेड़ों पर ही ऐसी लाख को बिचौलिये खरीद लेते हैं। बाद में वे इसे लाख की फैक्टरियों को दे देते हैं। वहाँ पर सीड लैक खूब पानी से धोई जाती है तथा मुखाने के बाद दानेदार निकल आती है। इसको गर्म करके घूमते रौलरों के बीच में डाल देते हैं, जिससे वह पिघल कर उसकी चादर सी खिंच आती है। यह चादर तुरन्त ही टूट जाती है और लाख के छोटे पतले पीले चमकदार पारदर्शक टुकड़े (फ्लेक्स) रह जाते हैं। इन्हें चपड़ा या शैलेक कहते हैं।

स्टिक लैक, सीड लैक तथा शैलेक का व्यापार होता है। लाख के उत्पादन के लिये ब्रूड लैक की भी माँग होती है। भारत से विदेशों को सीड लैक या शैलेक का निर्यात होता है। इस प्रकार बिना अधिक परिश्रम के लाख की फसल पैदा करके बिक जाती है।

लाख की माँग बढ़ती-घटती रहती है। लाख का सीधा उपयोग तो रंग-रोगन तथा वार्निश उद्योग में है। सभी तरह के पेन्ट, वार्निश, पालिश आदि में लाख मिलाई जाती है। विदेशों में फ्रेन्च पालिश की फर्नीचर तथा लकड़ी के फर्श के लिये बहुत माँग है। पेन्ट-वार्निश उद्योग के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यवसाय हैं जिनमें लाख की माँग है। ये हैं चूड़ी, सीलिंग वैक्स, फ़ैल्ट हैट तथा जूतों की पालिश आदि के उद्योग। लाख के खिलौने, लाख की पालिश तथा रंग भरे लकड़ी के आकर्षक चूड़ी, कंगन, खिलौने आदि मिलते हैं। पुराने समय में ग्रामोफोन के रिकार्ड लाख से ही बनते थे, अब प्लास्टिक के बनते हैं। लाख के उपयोग कई हैं। साथ ही नये प्रयोग करके नये उपयोग मिल रहे हैं। राकेट के ईंधन में लाख का मिश्रण कर देखा जा रहा है। रबड़ के साथ भी लाख का घोल मिलाकर विभिन्न कामों के लिये प्रयोग हो रहे हैं। कृषि में काम आने वाले यूरिया के कणों पर जब लाख का लेप चढ़ जाता है तब यूरिया का प्रभाव ज्यादा दिनों तक बना रहता है। बिजली उद्योग में भी विभिन्न इन्सूलेटर उपकरणों में लाख का उपयोग होता है।

भारत लगभग 100 देशों को लाख का निर्यात करता है। इनमें मुख्य हैं संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, पश्चिम जर्मनी, नीदरलैंड आदि। माँग तथा पूर्ति के अनुसार ही लाख का मूल्य घटता-बढ़ता है। फिलहाल लाख के निर्यात से भारत प्रतिवर्ष करीब 10 करोड़ रुपये का व्यवसाय करता है। यह विदेशी मुद्रा हमारे देश के लिये कितनी महत्वपूर्ण है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। भारत के साथ लाख के व्यापार में थाईलैंड प्रतिद्वन्दी है। चीन, रूस तथा कई अन्य देश अपने यहाँ लाख का उत्पादन करना चाहते हैं। यूरोप तथा अमरीकी महाद्वीपों में लाख पैदा नहीं होती।

देश में लाख का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। अभी सभी राज्यों के वन विभाग इस ओर कम ध्यान दे रहे हैं, क्यों कि लकड़ी की कीमतें बहुत अधिक हैं। लाख के उत्पादन से वृक्षों का नाम मात्र का नुकसान होता है। केवल 1-2 से. मी. मोटी टहनियाँ काटी जाती हैं, जो 'प्रूनिंग' के बतौर है। एक-दो फसल छोड़ कर पुनः उसी पेड़ पर से लाख का उत्पादन लिया जा सकता है। पलास या ढाक तथा बेर की इस बारे में बहुत उपयोगिता है। इनके अतिरिक्त भलिया (मोघानिया मॅक्रोफिला) की झाड़ी, जो असम में पाई जाती है, और छायादार स्थानों पर उगाई जा सकती है, से भी एक वर्ष के बाद ही लाख पैदा की जा सकती है। अलग अलग क्षेत्र के लिये उपयुक्त पेड़-पौधों का चुनाव करके लाख के कीड़ों का उत्पादन शुरू किया जा सकता है।

लाख के विषय में जानकारी देने वाले कुछ संस्थान इस प्रकार हैं—

(i) लाख उत्पादन के लिये :

निदेशक, भारतीय लाख अनुसंधानशाला,
पो. नामकुम, राँची-834 010.

(ii) लाख के व्यापार के लिये :

सचिव, शैलाक एक्सपोर्ट प्रोमोशन काउंसिल,
वर्ल्ड ट्रेड सेंटर, 14/1 बी, इजरा स्ट्रीट, कलकत्ता-700 001.

(iii) लाख के कीड़ों सम्बन्धी ज्ञान के लिये :

निदेशक, भारतीय प्राणि सर्वेक्षण,
'एम' ब्लॉक, न्यू अलीपुर, कलकत्ता-700 053.

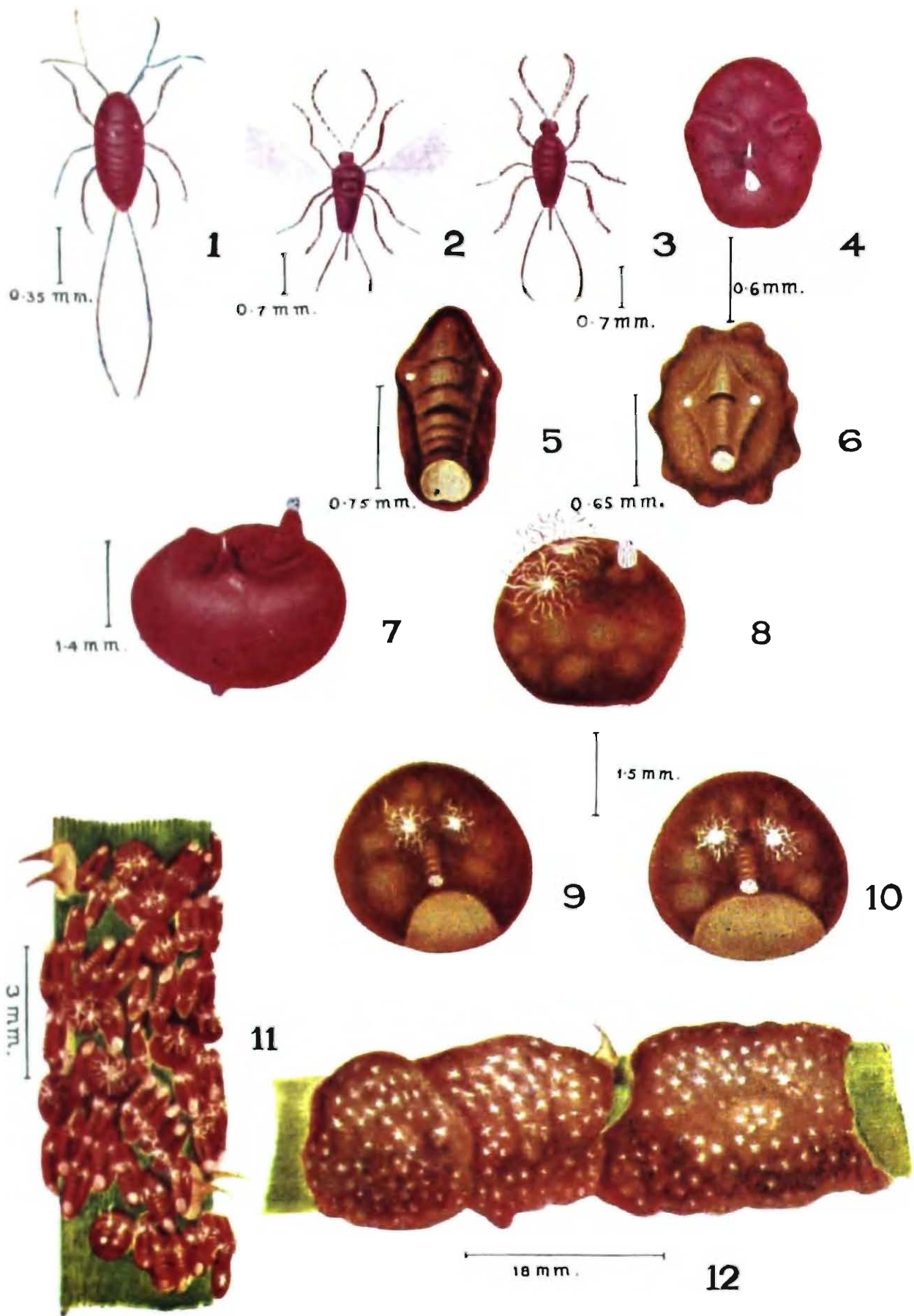
विभिन्न राज्यों के वन विभाग, विश्वविद्यालयों के प्राणिविज्ञान विभाग, लाख की फैक्टरियों और व्यापारिक फर्मों से भी लाख सम्बन्धी जानकारी ली जा सकती है। लाख के कीड़ों पर देश और विदेश के कई संस्थानों और विश्वविद्यालयों में शोध होती रही है।

आभार ज्ञापन

चित्र के उपयोग की अनुमति के लिये लेखक भारतीय लाख अनुसंधानशाला, राँची, के निदेशक के प्रति कृतज्ञ है।

चित्र का परिचय

1. लाख के कीड़े का बच्चा (लार्वा)
2. वयस्क नर, पंखवाला
3. वयस्क नर, पंखहीन
4. लाख के कीड़े की मादा
5. वयस्क नर का खोल
6. मादा का नया खोल
7. वयस्क मादा
8. वयस्क मादा का खोल
9. वयस्क मादा के खोल में पीले भाग का प्रकट होना
10. पीले भाग का आकार में बड़ा होना, जिसके साथ-साथ ही बच्चे बाहर निकलना प्रारम्भ होता है
11. बेर के पेड़ की टहनी पर बड़े होते हुए नर और मादा बच्चों के खोल
12. फसल पूरी होने के समय टहनी पर वयस्क मादा खोलों से जमघट की हुई लाख (ब्रूड लैक) ।



गोडावण

सैयद मोहम्मद अली

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण,
पटना-800 020

गोडावण (अरडियोटिस नाइग्रोसेप्स वीगर्स), भारतीय उप-महाद्वीप के शुष्क एवं अर्धशुष्क क्षेत्र का एक स्थानीय पक्षी है। इसको हिन्दी में गोडावण, हुक्ना और सोहन चिड़ी आदि भिन्न-भिन्न नामों से तथा अंग्रेजी में ग्रेट इन्डियन बस्टर्ड नाम से जाना जाता है। यह एक भ्रमणशील पक्षी है। ऋतुओं के अनुकूल भोजन एवं प्रजनन के लिये विभिन्न स्थानों में भ्रमण करता है। यह एक बड़ा तथा भारी पक्षी होता है जिसकी गर्दन लम्बी और पैर अनावृत होते हैं (चित्र 1)। नर की ऊँचाई 105 सेन्टीमीटर और वजन 9 से 10 किलोग्राम तक या अधिक होता है। जबकि मादा नर से औसतन हल्की एवं लगभग 25 सेन्टीमीटर छोटी होती है। जैसा कि प्रायः वर्णन किया गया है कि नर और मादा आकार के अतिरिक्त अन्य गुणों में समान होते हैं, परन्तु वर्तमान लेखक ने 1982 में देखा कि नर एवं मादा की गर्दन के लक्षण को देखकर आसानी से अन्तर बताया जा सकता है। नर की गर्दन मादा की तुलना में चौड़ी एवं पार्श्व भागों में दबी हुई होती है जबकि मादा की गर्दन गोल तथा क्रमशः पतली होती है।

एक शताब्दी से कुछ पूर्व तक यह पक्षी महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश में प्रचुरता से पाया जाता था। पंजाब, सिंध (अब पाकिस्तान में), आंध्रप्रदेश, कर्नाटक में थोड़ा तथा उत्तर प्रदेश एवं उड़ीसा में यदाकदा पाया जाता था। श्री लंका तथा नेपाल में इसकी उपलब्धियों के वर्णन गलत हैं। बिहार और पश्चिम बंगाल में इसका प्राचीन निवास भी संदेहास्पद है (अली, 1982)।

भारत में महाराष्ट्र, गुजरात तथा राजस्थान राज्यों के विभिन्न भागों में समय समय पर विशेषज्ञों ने इन पक्षियों की गणना की है, लेकिन अधिकांश

ने गिरावट की शंका व्यक्त की है। सालिम अली (1975) ने गुजरात में 500, भारत के थार मरुस्थल में 100 तथा पाकिस्तान के थार मरुस्थल में 50 का अनुमान लगाया था। धर्मकुमार सिंहजी (1978) ने पूरे देश में गोडावण की अनुमानित संख्या 745 आँकी है।

पारिस्थितिकी :-गोडावण के वास क्षेत्रों की जमीन हल्की, ढलानयुक्त, अममतल, बालू के टीलों वाली, कंकरीली और बंजर पहाड़ियों वाली है। इस क्षेत्र के अधिकतर भाग में या तो एकदम खुले घास के मैदान या कहीं मरुस्थलीय झाड़ियाँ हैं। कुछ जगहों पर खेत भी पाये जाते हैं। राजस्थान के बीकानेर, जैसलमेर, बारमेड़ आदि क्षेत्र जहाँ वार्षिक वृष्टि 400 मिलीमीटर या कम होती है वहाँ सेवन घास (लेस्युरस की प्रजातियाँ) पायी जाती हैं। गोडावण चिड़िया के लिये ये झाड़ीयुक्त खुले घास के क्षेत्र अनुकूल होते हैं। लेकिन ये सभी क्षेत्र चागागाह के बोझ से बोझिल हैं। गोडावण के राजस्थान में वर्तमान उपलब्धि स्थान तालिका-1 में दिये गये हैं। यह चिड़िया अजमेर,

तालिका 1-राजस्थान में गोडावण के वासस्थान

राज्य/जिला	स्थान	अक्षांश	देशान्तर
राजस्थान			
अजमेर	शोकालिया	26°15'	74°40'
बारमेड़	रनासर-गद्रा रोड (शिव)	26°10'	71°10'
जैसलमेर	कनोद	27°10'	71°05'
	बैसाखी-देवा	27°02'	70°54'
	लाथी (रतन की बस्ती)	27°00'	71°30'
	रामदेवरा	27°00'	71°55'
	कालन-होपाडी	27°00'	71°50'
	लोहारकी-अजासर-सतीयाय	27°05'	71°40'
	नचना	से	से
		27°30'	71°50'
	नोख (बिथेका गाँव)	27°30'	72°15'
	नोख (धन सिंग की धनी)		
	सिदासरी (सिपला-साम)	27°05'	70°25'
	रामगढ़		
	सुधना	26°40'	70°55'
	तनोत	से	से
	नेराड-खिनीयाम	27°50'	70°55'
	मानदा-अर्जुना		
	मुलतान-दिघा गोतरू	27°40'	70°05'

बाड़मेर तथा जैसलमेर जिलों में पूरे वर्ष पायी जाती है। लेकिन नोख (जैसलमेर) में इसकी सघनता अन्य स्थानों की तुलना में अधिक है। गुजरात के कच्छ, सुरेन्द्रनगर, भावनगर, अम्रेली, राजकोट, जामनगर आदि जिलों में गोडावण चिड़िया नहीं देखी गई।

गोडावण चिड़िया दिनचर होती है और इसके कार्य-कलाप सूर्य के प्रकाश की तीव्रता पर निर्भर करते हैं। सूर्य के उगने पर कुछ चिड़ियाँ अपने वास स्थान से करीब 10 किलोमीटर दूर तक भोजन की खोज में जा सकती हैं। ये भोजन की खोज के समय काफी चंचल होती हैं। इनके दाना चुगने की गति प्रति मिनट 5 से 10 की होती है। प्रायः यह चलते-चलते दाना चुगती है और एक डग में लगभग 60 से. मी. दूरी तय करती है। परन्तु जब ये शिकार का पीछा करती है तब डग बढ़कर 100 सेन्टीमीटर से भी अधिक हो जाता है। यह सर्व भक्षी स्वभाव की होती है और इसके भोजन में मकड़ी, गोजर, बिच्छू, कीड़े, छिपकली, साँप, छोटी चिड़ियाँ जैसे बुश लार्क (मीराफ्रा जाति की), चूहे और इसके सदृश पशु होते हैं। बड़े साँप के साथ खेल इस चिड़िया का एक बहुत रोचक स्वभाव है। गोडावण साँप की पूँछ पकड़ कर कुछ दूर तक उड़ती है और साँप इसके चोंच में झूलता रहता है फिर अपनी चोंच से उसे छोड़ देती है। जमीन पर गिरने के बाद वह उसे फिर झपट्टा मारकर जान से मार देती है और निगल जाती है। लोग गोडावण का शिकार माँस के गुण के लिये नहीं बल्कि इसमें अधिक मात्रा में माँस होने के कारण करते थे। कुछ चिड़ियों से आठ किलोग्राम तक माँस प्राप्त हो सकता है।

गोडावण शाकाहारी भोजन भी करते हैं जैसे-सेवन घास के नर्म तने, घोरा-दूब (इल्युसीन कम्प्रेसा), शीनीओ (क्रोटोलेरिया वुरह्या), वियानी (टेफ्रोसीया पुरपुरिया), डिण्टेरिजियम ग्लेसम (केवल कंकरीली जमीन के भीतर वाले भाग), सरसों (ब्रेसीका इंडीका), शीनीओ के फूल, मूँगफली (एरासीस हाइपोजीया), जौ के दाने (हारडियम भलगेयर), गेहूँ (ट्रीटीकम सेटाइभम), बाजरा (पेनीसिटम टाईफोडियम), बेर के फल (जीजीफस मारिशियाना), वोर्डी (जिजिफस नुमुलेरिया), केर (कपारिस डेसीडस) इत्यादि। ये चिड़ियाँ सुबह में छः से आठ घण्टे तक तेजी से भोजन करती है। लेकिन जब सूर्य ऊँचा उठजाता है तब उनका भोजन करना एवं घूमना पूर्ण रूप से बन्द हो जाता है और ये झाड़ियों में शरण लेती हैं। ऋतु के अनुसार शाम 17.30 बजे से 19.30 बजे तक उसी क्षेत्र में वास करती हैं या अपने रात्रि विश्राम स्थल की ओर चल देती हैं। प्रायः जमीन पर

झाड़ियों के बीच या घास के गुच्छों में बैठने की स्थिति में रात्रि विश्राम करती हैं।

गोडावण किसी भी खतरे की सम्भावना होने पर सावधान हो जाती है तथा गर्दन को ऊँचा उठा लेती है (चित्र 1)। एक का हटना ही दूसरों के लिए आने वाले खतरे की चेतावनी होता है। इसके पंख के रंग और इसके धीरे से जमीन से चिपक जाने की समर्थता (चित्र 2) के कारण यह घास के मैदानों में वातावरण से इस प्रकार मिल जाती है कि शत्रु अति निकट पहुँच कर भी इसे देख नहीं पाता। कभी कभी मादा का जमीन से चिपकना शायद नर को आमंत्रित भी करता है। अवांछित जानवर के आने पर यह साधारणतः अपने गर्दन के पंखों को फुलाकर (चित्र 3) उनमें भय का संचार करती है, लेकिन मनुष्य के आगमन पर यह उड़ जाती है। भारी होने के कारण गोडावण अपने पंख फैलाने के लिए धीरे धीरे 4-6 डग दौड़कर तब उड़ते हैं। कभी कभी नर गर्दन के पंखों को फुलाकर मादा को अपनी ओर आकर्षित करता है लेकिन पालतू चिड़िया कभी कभी ऐसा मनुष्य को देखकर डराने के लिए भी करती है। प्रजनन ऋतु में नर गर्दन के साथ साथ वायु प्रकोष्ठ को फुलाता है (चित्र 4) जो मादा को संभोग के लिए आमंत्रित करता है।

मादा गोडावण 4 वर्ष में तथा नर 6 वर्ष में यौवनावस्था में पहुँचता है। मानसून के महीनों में (जून-सितम्बर) इसका प्रजनन होता है। अनुमानतः नर बहुपत्नीक होता है। यह संभोग ऋतु में कौतुकपूर्ण प्रेम प्रदर्शन करता है।

गोडावण जमीन पर घोंसला बनाने वाला पक्षी है। घोंसला या तो सेवन घास के गुच्छों में, छिछले गर्त में, कृषि योग्य मैदान में, या दीली मिट्टी में खुले स्थानों में कंकड़ से ढँका होता है। घोंसले में हल्के पीले जैतूनी भूरे रंग का केवल एक अण्डा होता है, जो 40 दिनों तक सेया जाता है। मादा के सेयने का समय प्रतिदिन 12-18 घंटे तक होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह निश्चित संख्या में ही अण्डे देती है क्योंकि अण्डा खो जाने या नष्ट हो जाने पर उसकी जगह दूसरा अण्डा नहीं देती।

इस चिड़िया के अधिकतर अण्डे अनेक प्रकार से बर्बाद हो जाते हैं। अंध विश्वासों के कारण कुछ लोग अण्डे जमा कर लेते हैं तथा अण्डे के भीतरी पदार्थों को सुखाकर रहस्यमय साँप 'पियोना' के काटने पर प्रतिरोधक के रूप में प्रयोग करते हैं। कभी कभी अण्डे पालतू जानवरों द्वारा कुचले जाते हैं और नेवले, लोमड़ी, गीदड़, साँप, या गोह इत्यादि द्वारा चुरा लिए

जाते हैं। परिणामस्वरूप जिस स्थान पर गोडावण को अंडे देते देखा गया है, वहाँ इसके बच्चे शायद ही देखे जाते हैं। बच्चा गोडावण करीब एक वर्ष से अधिक समय तक अपनी माँ के साथ रहता है लेकिन माँ से अलग होने की उम्र अज्ञात है। इसकी निकट की जाति ओटिस टार्ड के बच्चे एक वर्ष में माँ से अलग हो जाते हैं। गोडावण का जीवनकाल 50 वर्ष बताया गया है। वर्तमान लेखक के अनुसार गोडावण का जीवनकाल 16-24 वर्ष तक होता है।

उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर जब 1932 में सूक्कूर में सिंधु नदी पर बांध बनाये गये, गोडावण पूर्वी सिंधु के मैदानों से गायब हो गये हैं। वस्तुतः यह परिवर्तन इस मैदानों क्षेत्रको पूर्णतः कृषि क्षेत्र में बदलने और मानवों की जनसंख्या, जो 1931 में 3.5 लाख से बढ़कर 1961 में 60 लाख तक हो जाने के कारण हुआ है। ये सभी परिणाम सींचित भूमि के विकास के साथ हुए। धर्मकुमार सिंहजी (1978) के अनुसार गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, मध्य प्रदेश, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश और हरियाणा के राज्यों में ये पक्षी प्राप्य हैं तथा पंजाब, उत्तर प्रदेश और उड़ीसा में इनके होने का सन्देह है।

किन्तु इस पूरे क्षेत्र के वातावरण में परिवर्तन के सामूहिक प्रभाव, या निर्धारित मात्रा में अंडे देना, और उत्पीड़न आदि ने इस जाति की जनसंख्या के घनत्व में संकटात्मक कमी ला दी है। वातावरण के परिवर्तन ने शायद इसे अर्ध शुष्क क्षेत्र से शुष्क क्षेत्र में जाने के लिये मजबूर कर दिया है जो कि इसके वासस्थान के लिये अनुचित है। परिणामस्वरूप बेरी फल तथा अन्य जो भी शिकार मिलता है उससे ही इसे सन्तुष्ट होना पड़ता है। इसका भविष्य हरी घास और झाड़ी के मिश्रण पर निर्भर है क्योंकि गोडावण को हरियाली, जन्तु-प्रोटीन और पानी की अति आवश्यकता है। राजस्थान में गोडावण की जनसंख्या धीरे-धीरे बढ़ रही है। जबकि गुजरात में वर्तमान स्थिति नाजुक है। जैसे भी हो इसकी सघनता के वर्तमान क्षेत्रों को अक्षुण्ण और शान्त बनाये रखना चाहिए।

मंक्यूइन का गोडावण : क्लेमाइडोटीया अन्डुलेटा मंक्यूइनी जे. ई. ग्रे (राजस्थानी में तिलोर) भारत के लिए परिव्राजक है जो पश्चिमोत्तर राजस्थान और गुजरात के शुष्क और अर्धशुष्क क्षेत्र में शरद ऋतु में विदेश से आते हैं। ऐसा कहा जाता है कि यह कच्छ का नियमित परिव्राजक है और गुजरात के सौराष्ट्र में खानाबदोश की तरह घूमते रहता है।

जैसलमेर जिला के चैतराल ग्राम के नजदीक घास युक्त झाड़ी में इनका एक जोड़ा देखा गया है और इसके पद चिन्ह जैसलमेर जिला के कूद और मोहनगढ़ के बीच नमक वाले क्षेत्र में देखे गये हैं।

भारत में इस जाति के वासस्थानों का नष्ट होना इनकी जाति के लिये खतरा नहीं दिखता बल्कि इस पूरे क्षेत्र में मानव द्वारा उत्पीड़न ही इसकी कमी का मुख्य कारण है। भारत में वन्य जीव संरक्षण अधिनियम 1972 का लागू होना, इस चिड़िया को संरक्षण दे सकता है।

कृतज्ञता ज्ञापन

निदेशक, भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता द्वारा सुविधा प्रदान करने के लिए, तथा गंगा समभूमि प्रादेशिक शाखा के डा. युधिष्ठिर चतुर्वेदी, डा. यदुनाथ प्रसाद सिन्हा और श्री रामाधीन कुमार द्वारा सहायता हेतु लेखक कृतज्ञ है।

सन्दर्भ

अली, सैयद मोहम्मद, 1982. दी ग्रेट इन्डियन बस्टर्ड। टाइगर पेपर 8 (4) 9-11.

अली, सालिम, 1975. औन सम बर्डस आफ दि इन्डियन डेजर्ट। 'इन्वायरन-मेंटल एनेलाइसिस आफ दि थार डेजर्ट' (सं. राजकुमार गुप्ता एवं ईश्वर प्रकाश) में। इंग्लिश बुक डिपो, देहरादून द्वारा प्रकाशित।

धर्मकुमार सिंह जी, के. एस., 1978. रिपोर्ट आन दि ग्रेट इन्डियन बस्टर्ड। आई. सी. बी. पी. बस्टर्ड ग्रुप। अन्तर्राष्ट्रीय बस्टर्ड सिम्पोजियम जयपुर, भारत, 1-3 नवम्बर 1980.



चित्र 1. सावधान नर गोडावण



चित्र 2. नर गोडावण जमीन से चिपका हुआ



चित्र 3. नर गोडावण गर्दन के पंखों को फुलाए हुए



चित्र 4. नर गोडावण फूली हुई गर्दन की अवस्था में मादा के साथ (चित्र : श्री अब्दुल बासीत)

अनाजों के हानिकारक कीड़े

जयप्रकाश नारायण शुक्ल

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता

प्रकृति की लीला विचित्र है। कभी अतिवृष्टि, तो कभी अनावृष्टि के कारण हमारी अनाजों की फसलें नष्ट हो जाया करती हैं, परिणामतः अन्न के अभाव में राष्ट्र के निर्धन भुखमरी के शिकार होने लगते हैं। हमारी सरकार ने अनाजों को संचित रखने की योजना बनाई है, साथ ही साथ किसान लोग भी अनाजों को संचित रखने लगे हैं ताकि अन्न के संकट के समय संचित भंडार का उपयोग किया जा सके।

कभी कभी अनाजों की गोदामों में संचित रखे गए अनाज नष्ट हो जाते हैं क्योंकि उनमें कई प्रकार के कीड़े लग जाते हैं तथा अनाज खाने योग्य नहीं रह जाता है। इस समस्या से बचने के लिए प्राणि वैज्ञानिक निरंतर प्रयत्न में लगे हैं और संचित अनाजों पर आक्रमण करने वाले कीड़ों का पता लगाते हैं जिससे उनके रोकथाम का उपाय हो सके।

प्राणि वैज्ञानिकों ने अब तक क्षति पहुँचाने वाले लगभग पचीस जाति के कीड़ों का पता लगाया है। लेकिन उनमें से मुख्य सात जातियों के कीड़े अधिक हानि पहुँचाते हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

1. खप्रा गुबरेंल

एवर्ट्स नामक प्राणि वैज्ञानिक ने सर्वप्रथम इस कीड़े का अध्ययन किया और इसका नाम *ट्रोनेडर्मा ग्रैनेरियम* रखा। यह छोटा भूरे रंग का कीड़ा है जिसकी शृंगिकायें मुद्गर के समान होती हैं। इसका पूरा शरीर सुन्दर रोम से ढँका रहता है। इसके मादा का रंग अधिक गहरा और आकार छोटा होता है। कीड़े की लम्बाई 1.5 से 3.0 मि. मी. है। चौड़ाई में नर बहुत पहला होता है, मादा उससे ज्यादा चौड़ी होती है।

यह कीड़ा विश्व के अन्य देशों इंग्लैंड, जर्मनी, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और पाकिस्तान इत्यादि देशों में भी पाया जाता है। हमारे देश में पंजाब, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में ज्वार, चावल, चना, मक्का, जौ, दालें तथा सूखे फलों को हानि पहुँचाते हुए देखा गया है।

यह कीड़ा जैसे ही अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में आता है मैथुन क्रिया प्रारम्भ कर देता है। एक मादा के साथ यह क्रिया एक ही बार होती है, परन्तु एक नर कीड़ा कई मादा के साथ सम्पर्क कर सकता है। मैथुन क्रिया के एक से तीन दिनों के अन्दर मादा अण्डे देना आरम्भ कर देती है। अण्डे सफेद, बेलनाकार और पारदर्शी होते हैं जो एक सिरे पर गोल और दूसरे सिरे पर सँकरे होते हैं। मादा एक से सात दिन के अन्दर 13-85 अण्डे देती है और एक दिन में अण्डे देने की क्षमता अधिक से अधिक 1-26 तक होती है। इसके अण्डे देने की क्रिया जून में 3 से 5 दिन, अक्टूबर महीने में 6 से 10 दिन देखी गई है। अण्डे से तुरन्त निकले हुए लार्वा का रंग सफेद या हल्का पीला होता है। लेकिन सिर का रंग भूरा होता है। जब लार्वा पूर्ण वृद्धि प्राप्त कर लेता है तो इसका रंग भूरा हो जाता है तथा इसके शरीर के निचले भाग पर पीले रंग की पट्टियाँ बन जाती हैं। इसका पूरा शरीर लम्बे कड़े रोम से ढँका होता है। नर लार्वा 19-31 दिनों में और मादा लार्वा 24-40 दिनों के अन्दर भोजन करके पूर्ण वृद्धि प्राप्त कर लेता है। पूर्ण वृद्धि प्राप्त हो जाने पर लार्वा फिर भूरे रंग के प्यूपा में बदल जाते हैं और 4-6 दिन के अन्दर वयस्क कीड़े में बदल जाते हैं।

यह हानिकारक कीड़ा अक्टूबर महीने से मार्च महीने के अन्त तक घरों या गोदामों की दीवारों के दरारों, छेदों तथा फर्श के अन्य अँधेरे वाले गुप्त स्थानों में छिपा रहता है और फिर अप्रैल महीने में क्रियाशील हो जाता है तथा अण्डे देना प्रारम्भ करता है। अण्डे से लार्वा, प्यूपा और पूर्ण कीड़ा बनते हुए नया जीवनक्रम प्रारम्भ हो जाता है।

2. छेद करनेवाला गुबरंल

यह बोस्ट्रीचिडी कुल का कीड़ा है। इसका अध्ययन सर्वप्रथम फैंब्रीसियस नामक प्राणि वैज्ञानिक ने किया और इसका वैज्ञानिक नाम 'राइजोपथ्रा डोमिनिका' रखा। यह कीड़ा छोटा, बेलनाकार लगभग $\frac{1}{8}$ " लम्बा $\frac{1}{2}$ " चौड़ा होता है। यह काले रंग का होता है और इसका सिर प्रोनेटम से ढँका होता है। प्रोनेटम का आकार दाँतेदार हुड की तरह होता है।

इसकी शृंगिकायें दस भागों से बनी होती हैं जिसका पहला दो भाग त्रिकोणीय एवं चोटी का भाग अंडाकार होता है। इसके वक्ष का भाग टेढ़े-मेढ़े रोएँ से ढँका रहता है। बाह्य रचना के आधार पर इसके नर तथा मादा का पहचानना कठिन होता है।

यह कीड़ा साधारणतया पूरे विश्व में पाया जाता है और मुख्यतः अल्जीरिया, अफ्रीका, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, न्यू साउथ वेल्स, जापान तथा चीन से एकत्र किया गया है। हमारे देशमें मुख्य रूप से पंजाब, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में पाया जाता है। यह अधिकतर गेहूँ के दाने को हानि पहुँचाता है, परन्तु ज्वार, मक्का, चावल, जई इत्यादि के लिए भी क्षतिकारक है। इतना ही नहीं यह सेम, आलू और आटा इत्यादि को भी नष्ट कर देता है।

इस कीड़े के अण्डे लगभग 0.59 मिलीमीटर लम्बे और 0.2 मिलीमीटर त्रिज्यावाले होते हैं। ये एक किनारे पर गोल और दूसरे किनारे पर कुछ नोकदार होते हैं। इनका रंग पहले सफेद लेकिन बाद में गुलाबी हो जाता है ये अनाजों को प्रभावित करके नीले रंग का बना देते हैं। एक मादा 26-30 दिन में 300-400 तक अण्डे देती है और एक दिन में 4 से 23 अण्डे दे सकती है। कुछ दिन बाद अण्डों से लार्वा निकलता है जो अनाज में प्रवेश कर जाता है और दाने का भीतरी भाग खाने लगता है तथा दाने के अन्दर ही 4-5 बार अपने शरीर का खोल बदलता है। पूर्ण वृद्धि प्राप्त लार्व का रंग हल्का भूरा हो जाता है। इसकी लम्बाई $\frac{1}{8}$ " होती है। यह दाने के अन्दर ही लार्व से प्यूपा बन जाता है फिर परिपक्व होने पर दाने के खोल को फाड़कर बाहर आ जाता है और वयस्क कीड़ा बन जाता है।

यह मई से अगस्त महीने तक बहुत क्रियाशील रहता है। सितम्बर महीने से सुषुप्तावस्था में पड़ा रहता है, परन्तु जैसे ही मार्च महीना आता है पुनः क्रियाशील हो उठता है और अण्डे देकर लार्वा तथा प्यूपा बनाता है। यह एक वर्ष में लगभग 5 जीवनचक्र पूरा कर लेता है। इस प्रकार यह कीड़ा अनाज के दानों में घुसकर अन्दर का भाग नष्ट कर देता है और अंत में केवल भूसी बची रह जाती है।

3. चावल का घुन

लिनियस नामक प्राणि वैज्ञानिक ने इसका पता लगाया और इसका नाम 'साइटोफिलस ओराइजी' रक्खा। यह छोटा भूरे रंग का लगभग

$\frac{1}{8}$ " लम्बा घुन है। इसका सिर बेलनाकार और सुण्ड घुमावदार होता है। इसके शरीर के अगले भाग में हल्के लाल या पीले रंग के धब्बे होते हैं तथा उदर पर गोल गर्त होते हैं।

यह कीड़ा पूरे विश्व में पाया जाता है। भारत के सभी प्रान्तों में यह गेहूँ, चावल, मक्का और ज्वार इत्यादि अनाजों को क्षति पहुँचाता है। साथ ही साथ यह जई, जौ, कपास और तीसी इत्यादि अनाजों को भी क्षतिग्रस्त कर देता है।

मादा कीड़ा गेहूँ या अन्य अनाज के दाने में छेद करके उसी में अण्डे दे देती है। एक मादा लगभग 400 दानों में एक-एक करके अण्डे देती है। 6-7 दिन में अण्डों से लार्वा बन जाता है जो दाने में ही छेद करके पड़ा रहता है और तब तक दाने में से नहीं निकलता, जब तक खाकर उसे नष्ट नहीं कर देता। एक वृद्धि प्राप्त लार्वा हल्का लाल या सफेद रंग का होता है और बाद में भूरे रंग का हो जाता है। फिर यह प्यूपा बन जाता है जो 6-14 दिन में पूरी वृद्धि प्राप्त करता है तथा बाद में कीड़ा बन जाता है। वृद्धि प्राप्त कीड़ा कई दिनों तक जीवित रह सकता है। यह कीड़ा या घुन दीवाल के छेदों या दरारों में होकर गेहूँ के बोरो में छिपा रहता है। जैसे ही ग्रीष्मकाल आता है, कीड़ा क्रियाशील होने लगता है और बरसात तक पूर्ण क्रियाशील बन जाता है। यह लगभग एक वर्ष में अपना 3-4 जीवनचक्र पूरा कर लेता है। यह अन्न के भीतर का स्टार्च भाग खाकर बिल्कुल नष्ट कर देता है। यह जितना अन्न खाता है, उससे अधिक छेद करके नष्ट कर देता है। इस प्रकार अल्पकाल में ही अन्य कीड़ों की तुलना में बहुत अधिक क्षति कर देता है।

4. अनाज की तितली

ओलिवियर नामक प्राणि वैज्ञानिक ने इसका सर्वप्रथम अध्ययन करके वैज्ञानिक नाम 'सीटोट्रोफा सिरियेलेला' रक्खा। यह लेपिडॉप्टेरा आर्डर के गेलेचिडो कुल का कीड़ा है। यह कीड़ा हल्का काला, भूरा या पीले भूसे के रंग का होता है। इसकी लम्बाई लगभग $\frac{1}{2}$ " होती है। इस कीड़े का पंख सँकरा, नोकदार और लम्बे रोयें से ढँका रहता है। यह हमारे देश के सभी भागों में पाया जाता है और संचित रखे गए गेहूँ, मक्का, ज्वार, जई, राई इत्यादि सभी अनाजों पर धावा बोलकर नष्ट कर देता है।

इस कीड़े का लार्वा शीतकाल तक सुषुप्तावस्था में पड़ा रहता है और

ग्रीष्मकाल आते ही क्रियाशील हो जाता है। मादा वयस्क होने के बाद ही नर से सम्पर्क करके अण्डे देना प्रारम्भ करती है। अण्डे पहले सफेद, फिर लाल रंग के हो जाते हैं। एक मादा एक सप्ताह में लगभग 150 अण्डे देती है। अण्डे एक सप्ताह के अन्दर लार्वे बन जाते हैं और अनाजों में छेद करके खाने लगते हैं। पूर्ण वृद्धि प्राप्त लार्वे की लम्बाई लगभग $\frac{1}{8}$ " होती है जिसका रंग सफेद और सिर का भाग भूरे रंग का होता है। प्यूपा बनने के पहले ही लार्वा सिल्क का कोकून बनाता है फिर हल्के लाल रंग के प्यूपा में बदल जाता है। इसके लार्वे की अवस्था 20-35 दिन होती है। मादा नर की अपेक्षा अधिक समय तक जीवित रहती है। अनुकूल मौसम में इस कीड़े का जीवनचक्र लगभग 30-60 दिन में पूरा हो जाता है।

इस कीड़े का लार्वा अनाजों में छेद कर देता है और उसके अन्दर का भाग खा जाता है। जैसे ही यह भोजन करके बढ़ता जाता है, अनाज के दाने में छेद भी बड़ा होता जाता है। परिणाम यह होता है कि अनाज बिल्कुल खोखला हो जाता है। जिससे उसका वजन आधा हो जाता है। इस लार्वे के प्रभाव से अनाज से दुर्गन्ध भी आने लगती है। यह वर्षाऋतु में अपना अत्यधिक प्रभाव डालता है।

5. आटेवाला गुबरैल

हरबस्ट नामक प्राणि वैज्ञानिक ने इसका विस्तृत अध्ययन करके इसका नाम 'ट्राइबोलियम कास्टैनियम' रक्खा। यह लगभग 3.5 मि. मी. लम्बा और 1.2 मि. मी. चौड़ा, छोटा, लाल या भूरे रंग का गुबरैल है। इसकी शृंगिकायें मुग़्दर की तरह तीन जोड़ों में बनी होती हैं। शृंगिका का तीसरा जोड़ गोल होता है। यह पूरे विश्व में पाया जाने वाला कीड़ा है। यह हमारे देश में सर्वत्र चावल, ज्वार, मक्का, गेहूँ, दालें, पिस्ता, बादाम, किशमिस इत्यादि अनाजों तथा अन्य खाद्य समाग्रियों को नष्ट करते हुए देखा गया है। यह आवश्यक बीजों जैसे कपास और तेल के बीजों और आटा, रोटी, केक इत्यादि को नष्ट कर देता है।

इसके अण्डे सफेद, पारदर्शक, बेलनाकार होते हैं जो मादा द्वारा अनाजों के चूर्ण या आटा इत्यादि में छोड़े जाते हैं। अण्डे की बाहरी सतह चिपचिपी होती है जिससे आटा या अनाज के चूरे इसके चारों तरफ चिपक जाते हैं। एक मादा 327-350 अण्डे दे सकती है जो 4-10 दिन के अन्दर लार्वे बन जाते हैं। पहले लार्वे का रंग हल्का, पीला या सफेद होता है और लम्बाई लगभग एक मि. मी. होती है। जैसे-जैसे लार्वे की वृद्धि होती जाती

है रंग बदलता जाता है। पूरी वृद्धि हो जाने से इसके शरीर पर रोयें भी बन जाते हैं और लम्बाई लगभग 6.3 मि. मी. हो जाती है। इसके सिर तथा अंतिम खण्ड का रंग गहरा भूरा होता है। लगभग 22-25 दिन में यह प्रायः शरीर का 6-7 बार खोल बदल कर पूर्ण वृद्धि प्राप्त कर लेता है। फिर लार्वे से प्यूपा बन जाता है जिसका रंग पीला होता है और रोयें से ढँका होता है। 5-9 दिन के अन्दर इसकी पूरी वृद्धि हो जाती है, तब यह वयस्क कीड़े के रूप में बदल जाता है। ग्रीष्मकाल में यह 26-30 दिन के अन्दर अपना एक जीवन चक्र पूरा कर लेता है। शीतकाल तक यह सुषुप्तावस्था में पड़ा रहता है और बसंत ऋतु आते ही क्रियाशील होने लगता है। ग्रीष्मकाल आते ही यह फिर जनन कार्य आरम्भ कर देता है। इस कीड़े का लार्वा प्रकाश से बिल्कुल दूर रहता है और हमेशा अनाजों में छिपा रहता है। पूर्ण वृद्धि प्राप्त कीड़ा बहुत हानिकारक होता है और थोड़ा बहुत उड़ भी सकता है। इसके प्रभाव से आटा या आटे की बनी कोई भी सामग्री नष्ट हो जाती है तथा उममें से दुर्गन्ध आने लगती है और खाने योग्य नहीं रह जाती है।

6. मूँग ढोरा

फैब्रीसियस नामक प्राणि वैज्ञानिक ने अध्ययन करके इस कीड़े का नाम 'ब्रूक्स एनॅलिस' दिया। यह छोटा अंडाकार गुबरैल है। इसके मादा का रंग चाकलेट की तरह होता है। नर कीड़ा हल्का लाल रंग या भूरे रंग का होता है। यह कीड़ा विश्व में रोडेशिया, बर्मा, जर्मनी इत्यादि देशों से एकत्र किया गया है। यह हमारे देश के पंजाब तथा अन्य क्षेत्रों में अनाजों को प्रभावित करते हुए देखा गया है।

पूर्ण वृद्धि प्राप्त करने के बाद यह कीड़ा जनन क्रिया में जुट जाता है और लगभग 72 घंटे में मादा अण्डे देना प्रारम्भ कर देती है तथा 2-20 दिन के अन्दर लगभग 11-150 अण्डे देती है। अण्डे से लार्वा बनने की अवधि भिन्न-भिन्न महीनों में भिन्न हुआ करती है। अण्डे 4-35 दिन के अन्दर लार्वे बन जाते हैं। नया लार्वा अनाज में छेद कर लेता है और उसी में घुसकर अनाज को खाता रहता है। यह अपनी पूरी वृद्धि के लिए लगभग 96-145 दिन लगाता है। ग्रीष्म काल में वृद्धि के लिए कम समय लगता है। फिर लार्वे से प्यूपा बनने में लगभग 10 दिन लग जाते हैं। नर की आयु मादा की अपेक्षा अधिक होती है।

मार्च के प्रथम सप्ताह में ही प्रायः मादा अण्डे देना प्रारम्भ कर देती

है और अप्रैल से अगस्त महीने तक लार्वा सक्रिय रूप से अनाजों को क्षति पहुँचाता रहता है फिर सितम्बर से दिसम्बर तक इसकी क्रिया सुस्त पड़ जाती है और सुषुप्तावस्था में आ जाता है। यह मूँग और मोंठ को नष्ट करने वाला कीड़ा है। लार्वे दाने के अन्दर घुसकर दाने को खाते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि दाने में कुछ रह ही नहीं जाता। कीड़ा गोल छेद बनाकर दाने से बाहर आ जाता है। अनाज को हवा नहीं मिल पाती जिसके कारण से उसमें से दुर्गन्ध आने लगती है।

7. चने का ढोरा

लिनियम नामक प्राणि वैज्ञानिक ने इसका अध्ययन करके नाम 'ब्रूक्स चाइनेसिस' रखा। यह पूर्ण वृद्धि प्राप्त कीड़ा अंडाकार लाल रंग का होता है। इसकी लम्बाई लगभग $\frac{1}{8}$ " होती है और श्रृंगिकायें लम्बी होती हैं। इसका वक्ष एक जोड़ा सफेद पट्टी जैसी रचना से युक्त होता है। इसका बाहरी पंख सुण्डाकार होता है। इसके पिछले टाँग में अन्दर तथा बाहर के किनारों पर काँटे होते हैं।

यह संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, मारिशियस, हवाई, इंग्लैंड, जर्मनी, रोडे-शिया, सीन्टोडोमिनो, फारमोसा, अफ्रीका, चीन, फीलीपाइन, जापान, जावा, श्रीलंका और बर्मा इत्यादि देशों में पाया जाता है। यह हमारे देश के सभी प्रान्तों में मूँग, मोंठ, मटर, अरहर, सोयाबीन, कपास और मक्के इत्यादि पर आक्रमण करते हुए पाया गया है।

पूर्ण कीड़ा बनने के बाद यह प्रजनन आरम्भ कर देता है। मादा एक दिन बाद से अण्डे देना आरम्भ कर देती है। अण्डे छोटे, गोल, और छोटे पत्ते की तरह होते हैं जो अनाज में ही छिपे रहते हैं। एक मादा 1-37 दिन में लगभग 34-113 अण्डे देती है, फिर 7-14 दिन के अन्दर इन अण्डों से लार्वा बन जाता है। लार्वा सफेद रंग का होता है लेकिन उसके मिर का भाग हल्का भूरा होता है। यह लार्वा अनाजों में छेद करके घुस जाता है और वहीं अपनी जीवन क्रिया पूरी करता है। लार्वा अगस्त, सितम्बर में 10-12 दिन एवं नवम्बर में लगभग 12-15 दिन में पूर्ण वृद्धि प्राप्त कर लेता है। फिर बीज के अन्दर ही प्यूपा में बदल जाता है। प्यूपा भी पूर्ण वृद्धि प्राप्त करने में 4-28 दिन लगाता है। पुनः यह अनाज के अन्दर ही वयस्क कीड़े में बदल जाता है और बाहर आ जाता है। कीड़े की अवस्था में यह 5-20 दिन तक जीवित रहता है। पूर्ण वृद्धि प्राप्त कीड़ा

मार्च के अंतिम सप्ताह में दिखाई पड़ता है और पुनः जीवन चक्र आरम्भ करते हुए अनाजों को क्षति पहुँचाने लगता है।

सन्दर्भ

प्रूथी, हेम सिंह, 1935. दी कोडलिंग माँथ इन इण्डिया। एग्रिकलचरल लाइव-स्टाक इन इण्डिया, 5(5) 1-523.

प्रधान, श्याम सुन्दर, 1969. इनसेक्ट पेस्ट ऑफ़ क्राप्स। नेशनल बुक ट्रस्ट, न्यू दिल्ली, XVI, 208 पृष्ठ.

भारतीय कर्ण कीट : एक परिचय

ज्ञानेन्द्र कुमार श्रीवास्तव

एवं

बैजूलाल

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता

कर्ण कीट को अंग्रेजी बोलचाल की भाषा में 'ईयरविग' कहते हैं। कीट वैज्ञानिक इन कीड़ों को डर्माप्टेरा क्रम का सदस्य मानते हैं। इस क्रम का प्रस्ताव द गीयर नामक वैज्ञानिक ने सन् 1773 में किया, जिसका किर्बी ने सन् 1815 में समर्थन किया।

संसार के अन्य प्राणियों की तरह ये कीट भी पर्यावरण के अभिन्न अंग हैं, जो वातावरण के साथ पारस्परिक सम्बन्ध एवं समन्वय बनाये रखते हैं। इनकी संसार में पायी जाने वाली लगभग 2000 जातियों (24 जीवाश्म जातियों को छोड़कर) में से लगभग 300 जातियाँ केवल भारतीय प्रायद्वीप में पायी जाती हैं। इनके उदर के पिछले भाग में स्थित अविभाजित चिमटी रूपी संरचना तथा इनके त्रिखंडित टखनों के आधार पर इन्हें सुगमता पूर्वक पहचाना जा सकता है।

प्राकृतिक वास एवं स्वभाव

इस समुदाय की कुछ जातियों, जो कि अत्यधिक ऊँचाई वाले हिमाच्छादित शिखरों पर सक्रिय रहती हैं, को छोड़कर अन्य सभी उपोष्ण (सब ट्रापिकल) एवं उष्ण कटिबंधीय (ट्रापिकल) जलवायु में रहने के अनुकूल होती हैं। यद्यपि इनकी अनेक जातियाँ विशेष प्रकार की परिस्थितियों में रहना चाहती हैं, लेकिन यह बिल्कुल असम्भव भी नहीं है कि वे किसी दूसरे प्रकार के वातावरण में न पायी जायें। फिर भी थोड़ी सी नमी इनके लिये आवश्यक है। आर्द्रता-प्रेमी प्रवृत्ति के कारण इन कीटों की अधिकतम संख्या हिमालय के जंगल और ढलाऊँ जगहों पर तथा पश्चिमीघाट की पवनाभिमुख पर्वत-

मालाओं पर पायी जाती हैं। इन कीटों की कुछ जातियाँ हिमालय में 3000 मीटर से भी अधिक की ऊँचाई वाले स्थानों पर पायी जाती हैं, जिनका भौगोलिक वितरण-सम्बन्ध पेलिआर्कटिक क्षेत्र में पायी जाने वाली जातियों से है।

सामान्यतः ये कीट पत्थरों के नीचे, सड़े-गले पदार्थों, अबद्ध वृक्ष की छालों, बाँस की शल्कों, केले के आच्छदों, पत्तियों के कक्ष, फूलों तथा कभी-कभी पक्षियों के घोंसलों में पाये जाते हैं, किन्तु लैबिडुरिडी कुल के दो जीनस **फोर्सोपूला** तथा **नाला** के सदस्य विशेष रूप से नदी और नालों के किनारों पर पाये जाते हैं।

साधारणतया ये कीड़े स्वभाव से रात्रिचर तथा छिपने वाले होते हैं एवं सूर्य के प्रकाश से दूर रहना चाहते हैं। लेकिन इनकी कुछ जातियाँ पतंगों की तरह प्रकाश की तरफ आकर्षित भी होती हैं। वास्तव में कर्णकीट की कोई भी जाति जलीय नहीं होती है, लेकिन जीनस **फोर्सोपूला** के सदस्यों को जब पानी में जाने के लिए बाध्य किया जाता है तो वे पानी के ऊपर तेजी से तैरने लगते हैं, किन्तु पानी के भीतर प्रवेश नहीं करते हैं।

आहार

इन कीटों की अधिकतर संख्या सर्वभक्षी है। लेकिन कुछ जातियाँ मुख्य रूप से मांसाहारी अथवा शाकाहारी होती हैं। कुछ जातियों में स्वजाति-भक्षण की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। इसके अतिरिक्त केलिसोकिडी कुल की एक जाति **केलिसोकीज मोरियो** (फैब्रिसिअस) विशेष रूप से भुनगाँ (एफीड्स) पातफुदुकों (लोफ-हापर्स) और पर्ण-सुरंगक कर्कस रोमिल डिम्बों (लीफ-माइनिंग हिस्पिड लार्वा) का भक्षण करती है।

संग्रह एवं संरक्षण

इनकी रात्रिचर एवं छिपने वाली प्रवृत्ति के कारण, इन कीटों का अधिक संग्रह आमानी से नहीं किया जा सकता है। कुछ जातियाँ इतनी फुर्तीली होती हैं कि अति अल्प आहट मिलते ही बचकर भाग निकलती हैं। अतः ऐसी जातियों को संग्रह करने के लिए रुई को स्पिरिट में भिगोकर बहुत हल्के से कीट के ऊपर रखकर उसे अचेत कर देते हैं और फिर चिमटी की मदद से संग्रह कर लेते हैं। अन्य जातियों का संग्रह चिमटी की मदद से सुगमता पूर्वक किया जा सकता है।

इन कीटों का अस्थायी संरक्षण परिशोधित अल्कोहल में किया जाता है। इस प्रकार के संरक्षण से कीड़ों की जननेन्द्रिय को बाहर निकालने में काफी सुगमता होती है, जो आधुनिक वर्गीकरण अध्ययन के लिये अनिवार्य आधार है। स्थायी संरक्षण के लिए इन कीटों को सुखाकर और पिन करके, सागौन की लकड़ी के बने काँच शीर्ष वाले वायुरुद्ध सन्दूकों में सजाकर रख देते हैं। प्रत्येक कीट के साथ ही एक कागज के लेबिल पर उसकी संस्थिति, संग्रह की तिथि, संग्रहकर्ता का नाम तथा अन्य कोई सूचना जो वैज्ञानिक अध्ययन के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हो, लिखकर पिन के साथ नत्थी कर देते हैं।

विशेष लक्षण

सिर त्रिकोणीय या पंचकोणीय एवं उद्गुहनु होता है, जिस पर एक जोड़ी शृंगिका स्थित होती हैं। आँखें बहुस्तरीय तथा भलीभाँति विकसित होती हैं किन्तु इनमें नेत्रकों (ओसेलाई) का अभाव होता है।

वक्ष (थोरेक्स) तीन भागों में बँटा होता है जिन्हें अग्र-, मध्य- तथा पश्चवक्ष (प्रो-, मीजो- एण्ड मेटाथोरेक्स) कहते हैं। प्रत्येक वक्षांश पृष्ठ भाग में एक कठक (स्क्लेराइट) से ढका रहता है जिन्हें अग्र-, मध्य- तथा पश्चपृष्ठक (प्रो-, मीजो- तथा मेटानोटम) कहते हैं। अग्रपृष्ठक का आकार चतुर्भुजीय अंडाकार या गोलाकार होता है जिसका पिछला भाग पंखविहीन जातियों में खंडित (ट्रंकेटेड) होता है।

मध्य-पृष्ठक एक काइटिन के पंख से ढका रहता है जिसे एलिट्रा कहते हैं। पंखविहीन जातियों में यह एक अनुप्रस्थ पट्टिका (ट्रांसवर्स प्लेट) के रूप में दिखायी देता है।

पश्च-पृष्ठक का सम्बन्ध क्रियाशील पंखों से होता है किन्तु पंखविहीन जातियों में यह एक अनुप्रस्थ खण्ड (ट्रांसवर्स सेगमेंट) के रूप में दिखायी देता है, जिसका अगला किनारा सीधा तथा पिछला किनारा तरंगित या कुछ गोलाकार होता है।

इन पृष्ठकों के सह-सम्बन्धित पट्टिकाओं को जो अधरतल की तरफ होते हैं, क्रमशः अग्र-, मध्य- तथा पश्च-अधरक (प्रो-, मीजो- एण्ड मेटास्टर्नम) कहते हैं।

अग्र-अधरक एक लम्बवत् पट्टिका की तरह होता है। मध्य-अधरक साधारणतया लम्बाई-चौड़ाई में समान एवं अनियमित आकार का होता है।

पश्च-अधरक की रचना, मध्य-अधरक के समान ही होती है, किन्तु आकार थोड़ा बड़ा होता है।

पश्च-अधरक के पीछे का लम्बवत् दस खण्डीय भाग उदर (एब्डोमेन) कहलाता है जिसका पहला खण्ड अनुपस्थित होता है। नर कीट में दूसरे खण्ड से लेकर नवाँ खण्ड, तथा मादा कीट में दूसरे खण्ड से लेकर सातवाँ खण्ड, स्पष्ट रूप से दिखायी देते हैं। उदर का अंतिम खण्ड उपान्तिम अधरकांश (पेनल्टीमेट स्टर्नाइट) कहलाता है।

इन कीटों के पृष्ठतल की अंतिम पट्टिका या कठक अंतिम पृष्ठकोश (अल्टीमेट टर्गाइट) कहलाता है जिसका आकार विभिन्न प्रकार का होता है। उदर के पिछले भाग में एक चिमटी रूपी संरचना पायी जाती है जो मादा कीटों में सरल तथा नर कीटों में विविध प्रकार की होती है।

इनके अंडे चिकने, हल्के पीले रंग के तथा दीर्घवृत्तजीय (एलीपस्वायडल) आकार के होते हैं। इनके जीवन-चक्र में अर्भकीय (निम्फल इन्स्टार) की चार या पाँच अवस्थाएं होती हैं। इस समुदाय के कीटों में पैतृक-रक्षण की विशेषता भी पायी जाती है।

वर्गीकरण

वर्गीकरण के वास्ते डर्माप्टेरा क्रम को तीन उपक्रमों में विभाजित किया गया है, जो इस प्रकार हैं फोर्फिकुलीना, एरिक्सेनिया तथा हेमीमेरिना। सही माने में लगभग सभी कर्णकीट उपक्रम फोर्फिकुलीना के सदस्य हैं जो प्रकृति में स्वच्छंद रूप से विचरते हैं।

दूसरे उपक्रम के अन्तर्गत केवल पाँच जातियाँ आती हैं। ये मलेशिया और फिलिपाइंस द्वीप समूह में पाये जाने वाले चमगादड़ों के संसर्ग में, या इनके ऊपर परोपजीवियों के रूप में, पायी जाती हैं। ये पंखविहीन होती हैं तथा इनका सारा शरीर सघन बालों से ढँका रहता है।

तीसरे उपक्रम के अन्तर्गत 11 जातियाँ आती हैं। ये पूर्वी तथा पश्चिमी अफ्रीका में पाये जाने वाले बड़े आकार के चूहों के शरीर पर बालों के नीचे चिपकी रहती हैं। ये भी पंखविहीन होती हैं तथा इनका बाह्य आकार चपटा एवं शरीर पर बाल कम होते हैं।

इन कीटों के वर्गीकरण का कार्य सर्विल द्वारा सन् 1831 से 1839,

डार्न द्वारा 1863 से 1867 तथा बोरमान्स द्वारा 1880 से 1900 के प्रकाशनों से ही आरम्भ हो गया था। इसके बाद जाचर ने सन् 1911 में इनके जननांगों को आधार मानकर वर्गीकरण की प्रथम चेष्टा की थी। इस कार्य को आगे बढ़ाते हुए बर् ने सन् 1915 व 1916 के अपने प्रकाशनों में जननांगों के आधार पर इनके वर्गीकरण की विस्तृत रूप रेखा प्रस्तुत की। हाल में स्टीनमैन (1975) ने जननांगों तथा बाह्य आकृति की संरचना में विभिन्नताओं के आधार पर वर्गीकरण प्रस्तावित किया है, जो आशा है भविष्य में लाभदायक सिद्ध होगा।

भारतीय कर्णकीटों का विस्तृत अध्ययन सर्वप्रथम बर् (1910) ने किया जो एक अपरिहार्य योगदान है। तत्पश्चात् हेबार्ड ने सन् 1923, रामामूर्ति ने 1960 से 1968, कपूर ने 1966 से 1982, तथा श्रीवास्तव ने 1968 से 1988 में अनेक शोध-पत्र आधुनिक परिकल्पना के आधार पर प्रकाशित किये हैं। श्रीवास्तव (1976) ने तब तक प्रकाशित सभी ओरियन्टल जातियों का वृहद कैटालाग प्रकाशित किया है।

समस्त भारतीय कर्णकीटों को 28 उपकुलों में विभक्त किया गया है, जो सात कुलों तथा चार अधिकुलों के अन्तर्गत आते हैं।

निष्कर्ष

वर्तमान समय में बढ़ती हुई मानव-गतिविधियों का सीधा प्रभाव पर्यावरण पर पड़ता है। कर्ण कीट भी पर्यावरण के अभिन्न अंग हैं। निर्वनीकरण एवं प्रदूषण आदि का दुष्परिणाम अन्य प्राणियों की तरह इन कीटों पर भी पड़ रहा है। फलस्वरूप प्रकृति में इन कीटों की संख्या दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही है। आने वाले समय में इनकी कुछ जातियों के लुप्त हो जाने का संशय है। अतः यह आवश्यक है कि इन कीटों का क्रमिक अध्ययन जारी रखा जाय, ताकि भविष्य में आने वाली पीढ़ियाँ इन उल्लेखों के आधार पर प्रकृति में पाये जाने वाले कर्णकीटों की समुचित जानकारी हासिल कर सकें।

सन्दर्भ

बर्, एम. 1910. फौना आफ ब्रिटिश इण्डिया, इनक्लूडिंग सिलोन एण्ड बर्मा।
डर्माप्टेरा। xviii, 217 पृष्ठ, 10 प्लेट्स.

स्टीनमैन, एच. 1975. सुप्राजेनरिक क्लासीफिकेशन आफ डर्माप्टेरा।
ऐक्टा जुलोजिका एक्डमी साइंटिएरम हंगरिकी, 21 (1-2) 195-220.

श्रीवास्तव, ज्ञा. कु. 1976. कैटालाग आफ ओरिएंटल डर्माप्टेरा। रेकार्ड.
भार. प्राणि सर्वे., अकेजनल पेपर, संख्या 2 : 94 पृष्ठ.

उत्तरप्रदेश में दीमकों के सहजीवी फ्लैजीलेट (प्रोटोजोआ) का अध्ययन

ध्रुव नारायण तिवारी

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता

बहुत से ऐसे भी प्राणी हैं जो पारस्परिक लाभ के लिए एक दूसरे के अन्दर या बाहर जीवनयापन करते हैं जिसे सहजीवन कहा जाता है। जब जन्तु के अन्दर या ऊपर दूसरा जन्तु रहता है, तो पहले को पोषक (होस्ट) तथा दूसरे को सहजीवी (सिमबायोट) कहते हैं। प्रस्तुत विषय के सहजीवी जन्तु एक कोषीय होते हैं, जो कि केवल सूक्ष्मदर्शी द्वारा ही देखे जा सकते हैं। कुछ सहजीवी दीमकों के आहारनाल में पाये जाते हैं। ये दीमकों द्वारा खाये हुए लकड़ी को अपने अन्दर स्थित सेलूलेज नामक इन्जाइम द्वारा दीमकों के लिए पचाते हैं साथ ही साथ अपना भोजन लकड़ी के रूप में दीमकों के आहारनाल से प्राप्त करते हैं। इसप्रकार इन दोनों जन्तुओं में सहजीवन का अच्छा उदाहरण मिलता है। यह सहजीवी जन्तु प्रोटोजोआ संघ के प्राणियों की जातियाँ हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप में दीमकों के सहजीवी फ्लैजीलेट के संबंध में सर्वप्रथम डीमेलो (1919, 37, 46) ने अपने सर्वेक्षण एवं अनुसंधान को गोआ, कर्नाटक एवं गुजरात के दीमकों के फ्लैजीलेट तक सीमित रखा। बाद में करान्डीकर और बिठूल (1954), चक्रवर्ती और बनर्जी (1956), उतांगी (1962), दास (1976), दास और चौधरी (1972) तथा तिवारी (1977, 78) ने विभिन्न दीमकों के फ्लैजीलेट का सर्वेक्षण एवं उनपर शोध विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित किया, लेकिन मुख्यतः इनका सर्वेक्षण भी कर्नाटक, गुजरात एवं पश्चिमी बंगाल तक ही सीमित रहा। भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तरी एवं उत्तरी-पूर्वी भाग में दीमकों के फ्लैजीलेट का सर्वेक्षण अबतक किसी ने नहीं किया है। इसको ध्यान में रखते हुए लेखक ने सर्वप्रथम उत्तरप्रदेश का सर्वेक्षण वर्ष 1980-82 में किया।

उत्तरप्रदेश के बलिया, आजमगढ़, देवरिया, गोरखपुर, बस्ती, गोंडा, बहराइच एवं नैनीताल जिलों में सर्वेक्षण किया गया। सर्वेक्षण के दौरान प्राप्त सहजीवी फ्लैजीलेट का अध्ययन किया गया।

विधि

इस अध्ययन के दौरान करीब पाँच सौ से अधिक दीमकों के नमूनों की परीक्षा उनके फ्लैजीलेट के लिए की गई। दीमकों को विभिन्न स्थानों, जैसे लकड़ी के डिपो, सीमेन्ट से बने मकानों, प्लाई-लकड़ी, गड़े हुए तख्तों एवं सूखे तथा जीवित वृक्षों की लकड़ियों, से एकत्रित किया गया। अधिकांश दीमक सागौन, शीशम, आम, इमली, कटहल, सहजन, पपीता और शहतूत के वृक्षों से एकत्रित किये गये। इनको गेहूँ तथा गन्ने के पौधों से भी एकत्रित किया गया। दीमकों की जातियों के उचित पहचान के लिये सैनिक (सोलजर) श्रेणियों का भी संग्रह किया गया। श्रमिक (वर्कर) श्रेणी को जिसमें फ्लैजीलेट ज्यादा पाये जाते हैं, अन्य श्रेणियों की तुलना में ज्यादा एकत्रित किया गया। दीमकों की कुल पाँच जातियाँ : काप्टोटर्मिस हेमाई, हेटरोटर्मिस इन्डिकोला, ग्लाइटोटर्मिस अलमोरेनसिस, क्रिप्टोटर्मिस हैवीलैन्डी और नियोटर्मिस बोसी इस सर्वेक्षण के दौरान एकत्रित की गईं।

दीमकों के उदर भाग को काटकर आहारनाल को एक शीशे की पट्टी (स्लाइड) के उपर निकाला गया। जीवित फ्लैजीलेट के अध्ययन के लिये आहारनाल के अंतर्वस्तु को 67% लाक्स घोल में मिलाकर पतला किया गया। स्थाई स्लाइड बनाने के लिये इस अंतर्वस्तु मिश्रण की एक बूंद 0.5% नमक के घोल में मिलाकर पतला कर बराबर मात्रा में एक स्लाइड के ऊपर फैलाया गया। इसके ऊपर साउडिन या कारनायड के घोल की कुछ बूंदें डालकर सहजीवी जन्तु को स्थिर किया गया। इस स्थिर जन्तु को हेइडहेन्स या डेलाफिल्ड हेमाटाक्सलीन से रंगा गया तथा जन्तु के उचित अंगों को प्रकट करने के लिये स्लाइड के ऊपर 1% आइरन एलम का घोल डालकर सफाई की गई। इसके बाद स्लाइड पर स्थित फ्लैजीलेट को 15 से 20 मिनट तक क्रमशः श्रवित जल तथा 70%, 90% और 100% एल्कोहोल में और अन्त में आधा घंटा जाइलोल में निर्जलीकरण के लिये रखा गया। तत्पश्चात् स्लाइड पर स्थित फ्लैजीलेट के ऊपर एक बूंद डी. पी. एक्स. मिश्रण को रखकर कवर ग्लास से ढक दिया गया। इस तरह स्थाई स्लाइड अध्ययन के लिये तैयार की गई। फ्लैजीलेट के विभिन्न अंगों का माप आकुलर माइक्रोमीटर की सहायता से लिया गया।

अध्ययन

पोषक (होस्ट) दीमक :- इन दीमकों की शारीरिक रचना बहुत छोटी होती है। ये दीमक हमारी फसलों, वन के पौधों, घर में लगी लकड़ियों, फर्निचर, किताबें तथा लकड़ी से बनी अन्य वस्तुओं को खाकर नष्ट कर देती हैं। प्रत्येक वर्ष करोड़ों रुपये मूल्य के कृषि का सामान तथा उपज इनके द्वारा नुकसान किया जाता है। बड़ी-बड़ी इमारतों को भी भारी क्षति पहुँचाते हैं। दीमक सामाजिक कीड़े होते हैं। इनके समूह में नर, मादा, सैनिक तथा श्रमिक श्रेणियाँ पाई जाती हैं। इनके मुँह की रचना कैंची की भाँति होती है जिससे फसलों तथा पौधों, यहाँ तक कि सूखी लकड़ियों को काटने में कठिनाई नहीं होती है। इस सर्वेक्षण के दौरान ऊपर लिखी पाँच प्रकार के दीमकों की जातियाँ एकत्रित की गईं। इन पाँचों जातियों के नमूनों को इनके सहजीवी फ्लैजीलेट के लिये परीक्षण किया गया।

सहजीवी (सिमबायोट) फ्लैजीलेट :- इनकी शारीरिक रचना सूक्ष्म एवं एक कोषीय होती है। बाहरी सतह को कोषिकाभित्त कहते हैं। कोषिकाभित्त के अन्दर इन्डोप्लाज्म, न्यूक्लियस, एक्सोस्टाइल एवं विभिन्न गणों में विभिन्न अंग पाये जाते हैं। इस सर्वेक्षण में पाये गये दीमकों के सहजीवी फ्लैजीलेट तीन गणों से संबंधित है : आक्सीमोनैडीडा, ट्राइकोमोनैडीडा और हाइपरमैस्टीगीडा।

1. **आक्सीमोनैडीडा (चित्र क) :-** इस गण के अन्दर शारीरिक रचना साधारण होती है। सर्वप्रथम कोषाभित्त तथा उसके भीतर इन्डोप्लाज्म तथा न्यूक्लियस होता है और उससे लगा हुआ एक्सोस्टाइल होता है। जन्तु के अग्रभाग में बहुत लम्बी मुखनली (रास्टेलम) होती है जो कि सहजीवी को पोषक के आहारनाल के अन्दर चिपके रहने में मदद करती है। इन्डोप्लाज्म के भीतर लकड़ी के छोटे छोटे टुकड़े मिलते हैं।

2. **ट्राइकोमोनैडीडा (चित्र ख) :-** इस गण के जन्तुओं की बनावट में सर्वप्रथम कोषिकाभित्त उसके अन्दर इन्डोप्लाज्म तथा अग्रभाग में न्यूक्लियस होता है जिससे जुड़ा हुआ एक्सोस्टाइल होता है। न्यूक्लियस के अग्रभाग में ब्लेफरोप्लास्ट होता है जहाँ से क्रेस्टा, पैराबासलबाडी, अग्रफ्लैजला तथा ट्रेलिंगफ्लैजला की उत्पत्ति होती है। इसके बहुत से कुल में पैराबासलबाडी एक्सोस्टाइल को फेरों में लपेटे हुए होती है। कभी-कभी जन्तु के शरीर से लगे हुए पतले रेशे के रूप में स्पाइरोकीट्स जन्तु मिलते हैं। इन्डोप्लाज्म के भीतर लकड़ी के छोटे छोटे टुकड़े मिलते हैं।

3. **हाइपरमैस्टीगोडा** (चित्र ग) :- इनकी शारीरिक रचना में बाहरी भाग कोषाभित्त होता है। भीतरी भाग में इन्डोप्लाज्म तथा न्यूक्लियस होता है। न्यूक्लियस से लगा हुआ एक्सोस्टाइल होता है। कोषाभित्त के चारों तरफ असंख्य फ्लैजला लगे होते हैं। किसी-किसी जन्तु में एक्सोस्टाइल नहीं होता है या अस्पष्ट होता है। इन्डोप्लाज्म के भीतर लकड़ी के छोटे छोटे टुकड़े भी मिलते हैं।

निम्न तालिका में उत्तरप्रदेश में सर्वेक्षण के दौरान प्राप्त सहजीवी फ्लैजीलेट का विवरण है :

पोषक (होस्ट)	परीक्षण किये गये पोषकों की संख्या	पोषकों जिनमें फ्लैजीलेट उपस्थित थे	सहजीवी फ्लैजीलेट (फ्लैजीलेट सिमबायोट)
गण आइसोप्टरा			गण : आक्सीमोनैडीडा
कुल कैलोटर्मीटीडी			कुल आक्सीमोनैडीडी
1. क्रिप्टोटर्मिस हैविलैन्डी (सोस्टेड)	100	100	1. आक्सीमोनस ग्रैन्डीस क्लीभलैंड
			गण ट्राइकोमोनैडीडा
			कुल : डेभेस्कोभाइनीडी
			2. डेभेस्कोभाइना ग्लैब्रा ग्रासी
			3. डेभेस्कोभाइना लेमनिस्काटा किर्बी
			4. फोयना रीफलेक्सा किर्बी
			5. फोयना सालीटा किर्बी
			कुल : कैलोनिम्फीडी
			6. स्टेफनोनिम्फा सिलभेस्ट्री जानीकी
			7. स्टेफनोनिम्फा पाइरीफार्मिस दास और चौधरी

पोषक (होस्ट)	परीक्षण किये गये पोषकों की संख्या	पोषकों की संख्या जिनमें फ्लैजीलेट उपस्थित थे	सहजीवी फ्लैजीलेट (फ्लैजीलेट सिमबायोट)
2. नियोटर्मिस बोसी स्नाइडर	100	100	गण आक्सीमोनैडीडा कुल : आक्सीमोनैडीडी 1. आक्सीमोनस ग्रैन्डीस क्लीभ-लैण्ड कुल : डेभेस्कोभाइनीडी 2. कडुसिया कैलसोभेनी किर्बी 3. डेभेस्कोभाइना ग्लैब्रा ग्रासी 4. फोयना रिफ्लेक्सा किर्बी कुल : कैलोनिम्फीडी 5. स्टेफनोनिम्फा पाइरीफामिस दास और चौधरी कुल : ट्राइकोमोनैडीडी 6. ट्राइकोमाइटापसिस कार्टागो-येनसिस (किर्बी)
3. ग्लाइप्टोटर्मिस अलमोरेनसिम गार्डनर	50	50	गण : ट्राइकोमोनैडीडा कुल डेभेस्कोभाइनीडी 1. मैक्रोट्राइकोमोनस पल्क्रा ग्रासी कुल कैलोनिम्फीडी 2. स्टेफनोनिम्फा सिलभेस्ट्री जानीकी

पोषक (होस्ट)	परीक्षण किये गये पोषकों की संख्या	पोषकों की संख्या जिनमें फ्लैजीलेट उपस्थित थे	सहजीवी फ्लैजीलेट (फ्लैजीलेट सिमबायोट)
कुल राइनोटर्मिटीडी			गण हाइपरमैस्टीमीडा
4. काप्टोटर्मिस हेमाई (वासमैन)	200	200	कुल होलोमैस्टीगोटीडी 1. होलोमैस्टीगोट्वायडिस बेंगलेन्सीस चक्रवर्ती और बनर्जी 2. होलोमैस्टीगोट्वायडिस कम्पैनुला (डीमेलो) 3. होलोमैस्टीगोट्वायडिस ग्लोबोसस डीमेलो 4. होलोमैस्टीगोट्वायडिस स्फेरायडलिस डीमेलो कुल स्पाइरोट्राइकोनिम्फीडी 5. स्पाइरोट्राइकोनिम्फा भद्रेश्वरेन्सीस तिवारी 6. स्पाइरोट्राइकोनिम्फा फालानोई करान्डीकर और विठ्ठल कुल : यूकोमोनिम्फीडी 7. सूडोट्राइकोनिम्फा कार्डीफार्मिस करान्डीकर और विठ्ठल 8. सूडोट्राइकोनिम्फा इण्डिका चक्रवर्ती और बनर्जी
5. हेटरोटर्मिस इण्डिकोला (वासमैन)	100	100	गण : हाइपरमैस्टीमीडा कुल : होलोमैस्टीगोटीडी 1. होलोमैस्टीगोट्वायडिस बेंगलेन्सीस चक्रवर्ती और बनर्जी

पोषक (होस्ट)	परीक्षण पोषकों किये गये की संख्या पोषकों जिनमें की संख्या फ्लैजीलेट उपस्थित	सहजीवी फ्लैजीलेट (फ्लैजीलेट सिमबायोट)
		2. होलोमैस्टीगोट्वायडिस कमपैनुला (डीमेलो) 3. होलोमैस्टीगोट्वायडिस मैगनस उतांगी 4. होलोमैस्टीगोट्वायडिस ओगीभैलिस डीमेलो 5. होलोमैस्टीगोट्वायडिस रेई करान्डीकर और विठुल 6. होलोमैस्टीगोट्वायडिस स्फेरायडलिस डीमेलो कुल स्पाइरोट्राइकोनिम्फीडी 7. स्पाइरोट्राइकोनिम्फा फ़ालनोई करान्डीकर और विठुल कुल : यूकोमोनिम्फीडी 8. सूडोट्राइकोनिम्फा कार्डीफार्मिस करान्डीकर और विठुल 9. सूडोट्राइकोनिम्फा इण्डिका चक्रवर्ती और बनर्जी 10. सूडोट्राइकोनिम्फा सबएपीकै- लिस करान्डीकर और विठुल

पोषक सहजीवी संबंध

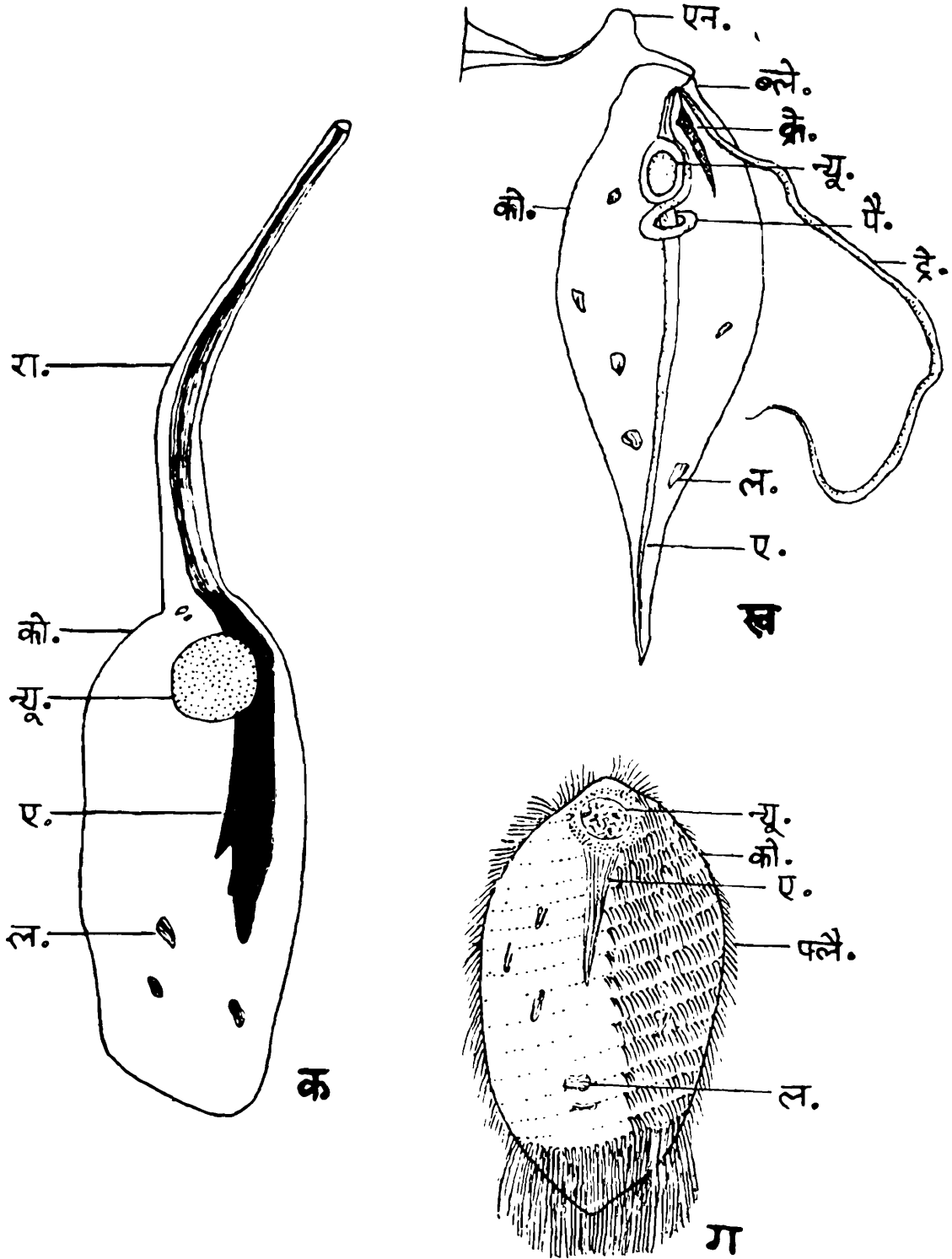
यह एक विस्तृत विषय है, इसका पूरा विवरण यहाँ पर देना असंभव है, इसलिए संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है। इन जन्तुओं में दो तरह के संबंध पाये गये हैं: 1. कार्यकी (फिजियोलोजिकल) संबंध, और 2. जातिवृत्तिय (फाइलोजेनेटिक) संबंध।

1. कार्यकी संबंध :- यह एक पारस्परिक लाभ का संबंध है जो कि दीमक और फ्लैजीलेट के बीच बनता है जिसमें एक की अनुपस्थिति में दूसरे का जीवित रहना असम्भव है। प्रकृति में एक अच्छा उदाहरण इनके बीच मिलता है। सहजीवी पूर्णतया कार्बोहाइड्रेट भोजन पर ही आधारित रहते हैं जिसे ये लकड़ी के रूप में पोषक द्वारा खाये गये लकड़ी से उनकी आहारनाल में प्राप्त करते हैं। इसके बदले में सहजीवी फ्लैजीलेट सेलूलोज संश्लेषण करने वाले इन्जाइम सेलूलोज को उत्पन्न करते हैं जो कि दीमक द्वारा लकड़ी के पचन-पाचन में उपयोग आता है। दीमक बहुत तेज लकड़ी खानेवाला जन्तु है। परन्तु अपनी खाई हुई लकड़ी स्वयं नहीं पचा सकता। इसके लिए उसे फ्लैजीलेट पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इस क्रिया को क्लीभलैण्ड (1925) ने एक प्रयोग द्वारा सिद्ध किया। उन्होंने एक सांद्र आक्सीजन कक्ष में दीमकों को रखा। आक्सीजन फ्लैजीलेट के लिए दीमकों के तुलना में बहुत ज्यादा विपैला है। अतः दीमकों को कोई क्षति नहीं हुई जबकि उनके आहारनाल में स्थित फ्लैजीलेट नष्ट हो गये। फ्लैजीलेट के नष्ट हो जाने से दीमक अपने खाये हुए लकड़ी को नहीं पचा सके। अंततोगत्वा पाचन क्रिया के अभाव में दीमक भी नष्ट हो गये।

2. जातिवृत्तिय संबंध :- इन सहजीवियों की उत्पत्ति दीमकों के जातिवृत्तिय विकास के समय होती है। विशिष्ट प्रकार के सहजीवी विशिष्ट प्रकार के दीमकों में उत्पन्न होते हैं। इसके लिए सहजीवी फ्लैजीलेट पोषक दीमक के संबंधों में कुछ हद तक सूचक के रूप में प्रयोग किये जा सकते हैं। हानीगवर्ग (1970) ने इस विषय में अध्ययन किये, पर यह अभी भी अधूरा पड़ा है। भविष्य में अगर वैज्ञानिकों द्वारा इस विषय में और खोज की जाय तो यह एक बड़ा दिलचस्प कार्य होगा।

सारांश

उत्तरप्रदेश में एकत्रित किए गए लकड़ी खानेवाले दीमकों के कुछ सहजीवी फ्लैजीलेट (प्रोटोजोआ) का वर्णन किया गया है। पाँच प्रकार के दीमक क्रिप्टोटर्मिस हैवलैण्डी, नियोटर्मिस बोसी, ग्लाइटोटर्मिस अलमो-रेनसिस, काप्टोटर्मिस हेमाई और हेटरोटर्मिस इण्डिकोला की आहार नाल का परीक्षण करने पर सहजीवी फ्लैजीलेट की दस जातियाँ आक्सीमोनस, डेभेस्कोभाइना, फोयना, कडुसिया, मैक्रोट्राइकोमोनस, स्टेफनोनिम्फा, ट्राइको-माइटापसिस, होलोमैस्टीगोट्वायडिस, स्पाइरोट्राइकोनिम्फा और सूडोट्राइको-निम्फा प्राप्त की गई। पोषक सहजीवी संबंधों का भी संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।



क ; आक्सीमोनैडीडा का प्रारूपिक रेखाचित्र । को.—कोषाभित्त, न्यू.—न्यूक्लियस, ए.—एक्सोस्टाइल, ल.—लकड़ी के टुकड़े, रा.—रास्टेलम ।

ख , ट्राइकोमोनैडीडा का प्रारूपिक रेखाचित्र । एन.—एन्टीग्रियर फ्लैजेला, ब्ले.—ब्लेफरोप्लास्ट, को.—कोषाभित्त, क्रे.—क्रेस्टा, न्यू.—न्यूक्लियस, पै.—पैगबासलबाडी, ट्रे.—ट्रेलिंग फ्लैजेलम, ल.—लकड़ी के टुकड़े, ए.—एक्सोस्टाइल ।

ग ; हाइपरमैस्टीगीडा का प्रारूपिक रेखाचित्र । न्यू.—न्यूक्लियस, को.—कोषाभित्त, ए.—एक्सोस्टाइल, फ्लै.—फ्लैजेला, ल.—लकड़ी के टुकड़े ।

आभार ज्ञापन

लेखक, निदेशक भारतीय प्राणि सर्वेक्षण कलकत्ता का आभारी है, जिनकी अनुमति और सुविधा से यह कार्य हो सका। उत्तरप्रदेश के वन विभागीय अधिकारियों का भी ऋणी है जिन्होंने इस कार्य के सर्वेक्षण के दौरान अपना बहुमूल्य सहयोग दिया।

संदर्भ

क्लीभलैण्ड, एल. आर. 1925 दी एबीलीटी आफ टर्माइट्स टू लिभ परहैप्पम इनडेफीनितली आन ए डाइट आफ सेलूलोज। बायोल. बुलै. **48** 289-293.

करान्डीकर के. आर और विठ्ठल, एम. 1954. फ्लैजीलेट इन टर्माइट फ्राम धरवार। ज. यूनिवर्सिटी बाम्बे, **23** बी : 1-24.

चक्रवर्ती, एम. एम. और बनर्जी ए. के. 1956. आबजर्वेशन आन दी होलोमैस्टीगिड एण्ड ट्राइकोनिम्फीड फ्लैजीलेट फ्राम एन इन्डियन टर्माइट। प्रोसी. जूलो. सोसा. कलकत्ता, **9** 35-44.

डीमेलो, एफ. 1946. फर्दर स्टडीज आन द इन्टेस्टाइनल प्रोटोजोआ आफ एन इन्डियन क्रिप्टोटर्मिस। एनास. इनस्ट. मेड. ट्राप., लिस्बा., **3** 29-80.

दाम, ए. के. और चौधरी, ए. 1972. कैलोनिम्फीड फ्लैजीलेट (ट्राइकोमोनैडीडा: मैस्टीगोफोरा) आफ इन्डियन टर्माइट्स। प्रोसी. जूलो. सोसा. कलकत्ता **25** 25-33.

तिवारी, ध्रु. ना. 1977. ए न्यू स्पीसीज आफ स्पाइरोट्राइकोनिम्फा ग्रासी एण्ड फोवा (प्रोटोजोआ मैस्टीगोफोरा) फ्राम जाइलोफेगस टर्माइट्स फ्राम इन्डिया। करे. साइन्स. **46**:232-233.

हानीगवर्ग, बी. एम. 1970. प्रोटोजोआ एसोसियेटेड विथ टर्माइट्स एण्ड देयर रोल इन डाइजेसन। बायोलोजी आफ टर्माइट्स, ग्रंथ **2** 1-36.

उत्तान्गी, जे. सी. 1962. मम न्यू स्पीसीज आफ होलोमैस्टीगोट्वायडिस फ्राम इन्डियन टर्माइट्स। जर. कर्नाटक यूनिवर्सिटी, **7** : 182-199.

आर्थोप्टेरा कीड़ों में ध्वनि प्रसारण

महेन्द्रसिंह शिशौदिया

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता

आर्थोप्टेरा वर्ग में टिड्डी, तृणभोज, फर्तिगा, झींगुर इत्यादि कीड़े आते हैं। इन कीड़ों के अन्दर एक विशेषता यह होती है कि ये विभिन्न प्रकार की ध्वनि निकालते हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यह ध्वनि, मादा को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये नर पैदा करता है। ध्वनि भी विभिन्न जाति के कीड़ों में विभिन्न प्रकार से प्रसारित होती है। कुछ मुख्य विधियाँ हैं—

- (i) प्रथम पंख (टेगमिना) से पिछली जाँघ (हाइंड फीमर) पर रगड़ने द्वारा ;
- (ii) प्रथम पंख (दायें और बायें) में आपस में रगड़ द्वारा ;
- (iii) पिछली जाँघ से उदर या धड़ (एबडोमन) पर रगड़ द्वारा ।

कुछ ध्वनियों का हमें पता ही नहीं चलता है कि यह किस भाग से पैदा हो रही हैं, मगर इसे हम सुन सकते हैं।

इस लेख में हम उन मुख्य तरीकों पर प्रकाश डालेंगे जिनके द्वारा इन तृणभोज, फर्तिगा, झींगुर इत्यादि में ध्वनि प्रसारित होती है। प्रथम उन भागों के बारे में जानें जो ध्वनि पैदा करने में सहायक होते हैं। वे हैं— प्रथम पंख (दायें या बायें) (टेगमिना), पिछली टाँग का जाँघ भाग (हाइंड फीमर) एवं उदर या धड़ (एबडोमन) ।

प्रथम पंख (टेगमन या अलीट्रा) (चित्र 1, 6)

प्रथम पंख को ही टेगमन (बहुवचन-टेगमिना) कहते हैं। इसकी शक्ल बदलती रहती है—कभी कभी दोनों समानान्तर होते हैं, कभी इसका ऊपरी

सिरा नुकीला और कभी पत्ती जैसा भी होता है। इसकी लम्बाई भी बदलती रहती है।

टेगमन की सतह पर बहुत सारी उभरी हुई नसें होती हैं जिन्हें वेन्स कहते हैं। मुख्य नसें तथा उनकी शाखा के मध्य आड़ी नसों का जाल बिछा रहता है, जिनकी नियमितता और घनत्व बदलता रहता है। इसके अलावा कुछ नसों व आड़ी नसों के घर्षण-ध्वनि में भाग लेने से काफी रूपान्तर होता रहता है। इन नसों के बीच का झिल्लीदार क्षेत्र ध्वनि प्रसारण करता है।

पिछली जाँघ (हाइंड फीमर) (चित्र 2, 3)

प्रत्येक टाँग के आठ भाग होते हैं, जिसमें जाँघ भी एक भाग है। हम यहाँ पर केवल पिछली जाँघ के बारे में ही अध्ययन करेंगे। जैसा कि चित्र में देखते हैं, पिछली जाँघ के अन्दर वाले भाग पर निचले (लोअर मारजीनल) क्षेत्र के ऊपर की तरफ खूंटोनुमा रचना होती है। ये रचनायें एक पंक्ति में बिछी रहती हैं। ये खूंटी प्रत्येक प्रथम पंख के रगड़ने से आवाज पैदा करती है।

चित्र 1. नर झींगुर के प्रथम पंख (टेगमन) का पृष्ठीय दृश्य। क्यू.- क्यूबीटल नस ; क्यूपी.=क्यूबीटल नस की पिछली शाखा ; मि.--मिरर ; एपी. फी.=शिखाग्र क्षेत्र।

चित्र 2. तृणभोज फतिगा की पिछली टाँग। फी.=जाँघ (फीमर) ; टी.=टखना (टिबिया)।

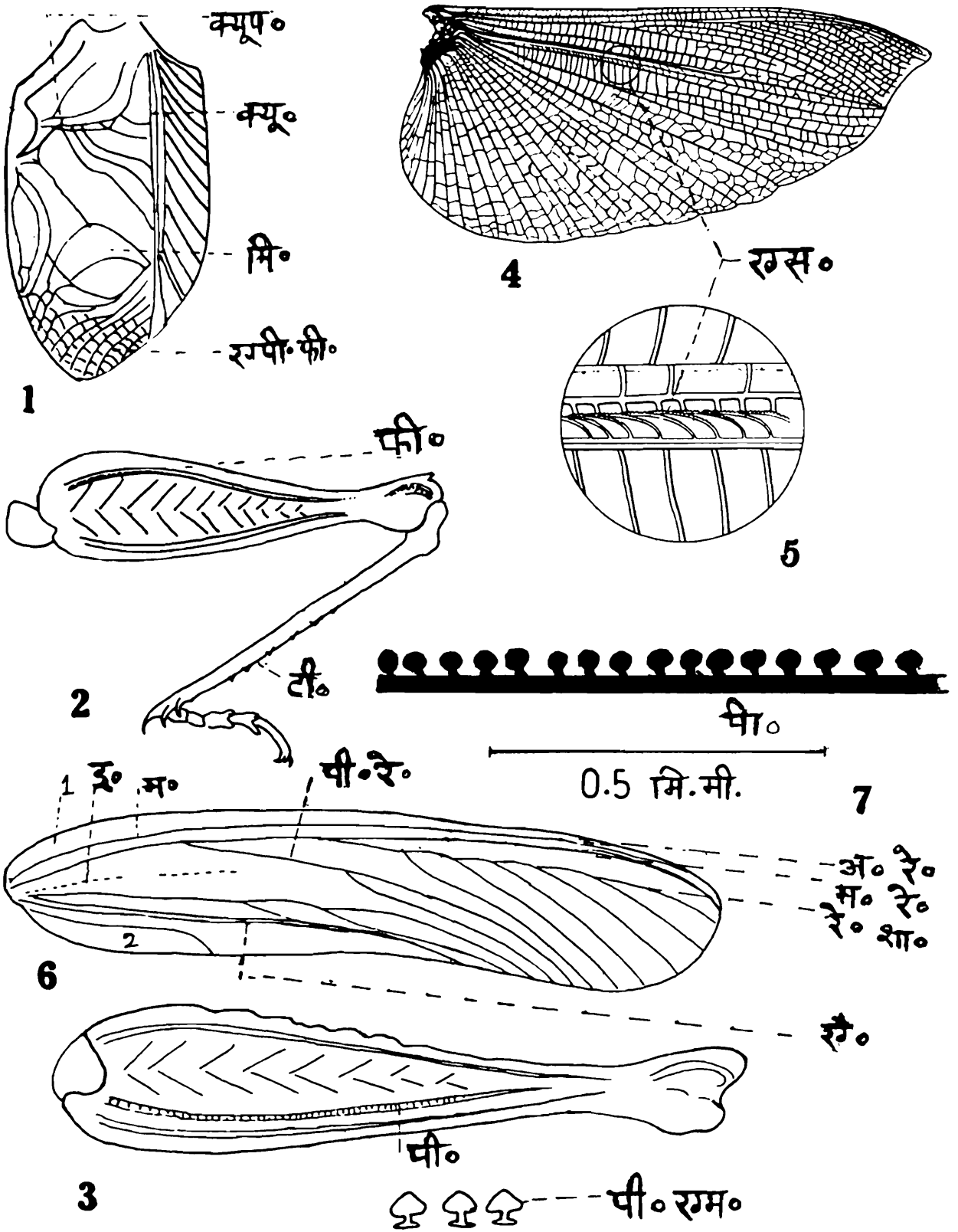
चित्र 3. तृणभोज फतिगा की पिछली जाँघ की भीतरी भाग की सतह। पी.=रेतो (फाइल) ; पी. एम.=रेती पर लगी कीलें/खूंटियों का बड़ा रूप।

चित्र 4. द्वितीय पंख पर घर्षण-ध्वनि के लिये यंत्र रचना। एस.=स्क्रेपर।

चित्र 5. द्वितीय पंख पर घर्षण-ध्वनिक लघु नसों का आकार वृद्धि। एस.=स्क्रेपर।

चित्र 6. प्रथम पंख (टेगमन) तृणभोज फतिगा का-अ. रे. =अगली रेडियल नस, म. रे.=बीच की रेडियल नस ; रे. शा.=रेडियल की शाखायें, पी. रे. =पिछली रेडियल ; म.--मीडियास्टाइनल नस ; इ.=इन्टरकेलेट नस, 1=मीडियास्टाइनल क्षेत्र ; 2=एनल क्षेत्र।

चित्र 7. नर गम्फोसेरीनी उप-परिवार में पिछली जाँघ की भीतरी सतह पर रेती (फाइल) का बड़ा रूप (संधित रहित)। पी.=कील।



अरस्तू पहले जीव-विज्ञानी हुये, जिन्होंने तृणभोज फतिगा में घर्षण-ध्वनि अथवा चरमराहट के बारे में खोज की थी। हाल ही में इन तृणभोज फतिगा के आवाज पैदा करने की यंत्र-रचना के बारे में, यूरोप व अमरीका में पाये जाने वाली जातियों के कीड़ों से, पता लगा है जो बहुत कम विस्तार की यंत्र-रचना बताती हैं। इन कीड़ों में बहुत ही आश्चर्य चकित यंत्र-रचना है, जो आवाज पैदा करती है, मगर उनका पूरा अध्ययन अभी नहीं हुआ है। इस लेख में सब प्रकार के नमूनों (टाइप्स) की समीक्षा करना कठिन है। अतः मुख्य प्रकार पर ही विचार किया जायेगा।

घर्षण-ध्वनि यंत्र रचना

इस यंत्र रचना में दो भाग आते हैं—एक है रेती (फाइल), जिसमें छोटी छोटी ग्रन्थि अथवा स्पष्ट खूँटी एक पंक्ति में एक भाग पर बिछी रहती हैं, और दूसरी है स्क्रैपर जो दूसरे भाग पर एक कठोर उभार के रूप में होती हैं। इन दोनों के आपस में घर्षण से वाह्य-त्वचा में प्रकंपन होता है। ये अंगभूत जोड़े पिछली टाँगों पर (जाँघ पर), प्रथम पंख (टेगमन) पर तथा उदर के भिन्न-भिन्न भागों पर पाये जाते हैं जिनका घर्षण उनके आपेक्षिक गति पर निर्भर करता है।

चित्र 8. नर क्रोटियोमा डाइलेटेटम कारनी का पृष्ठीय दृश्य। क्यू.= क्यूबीटल नस।

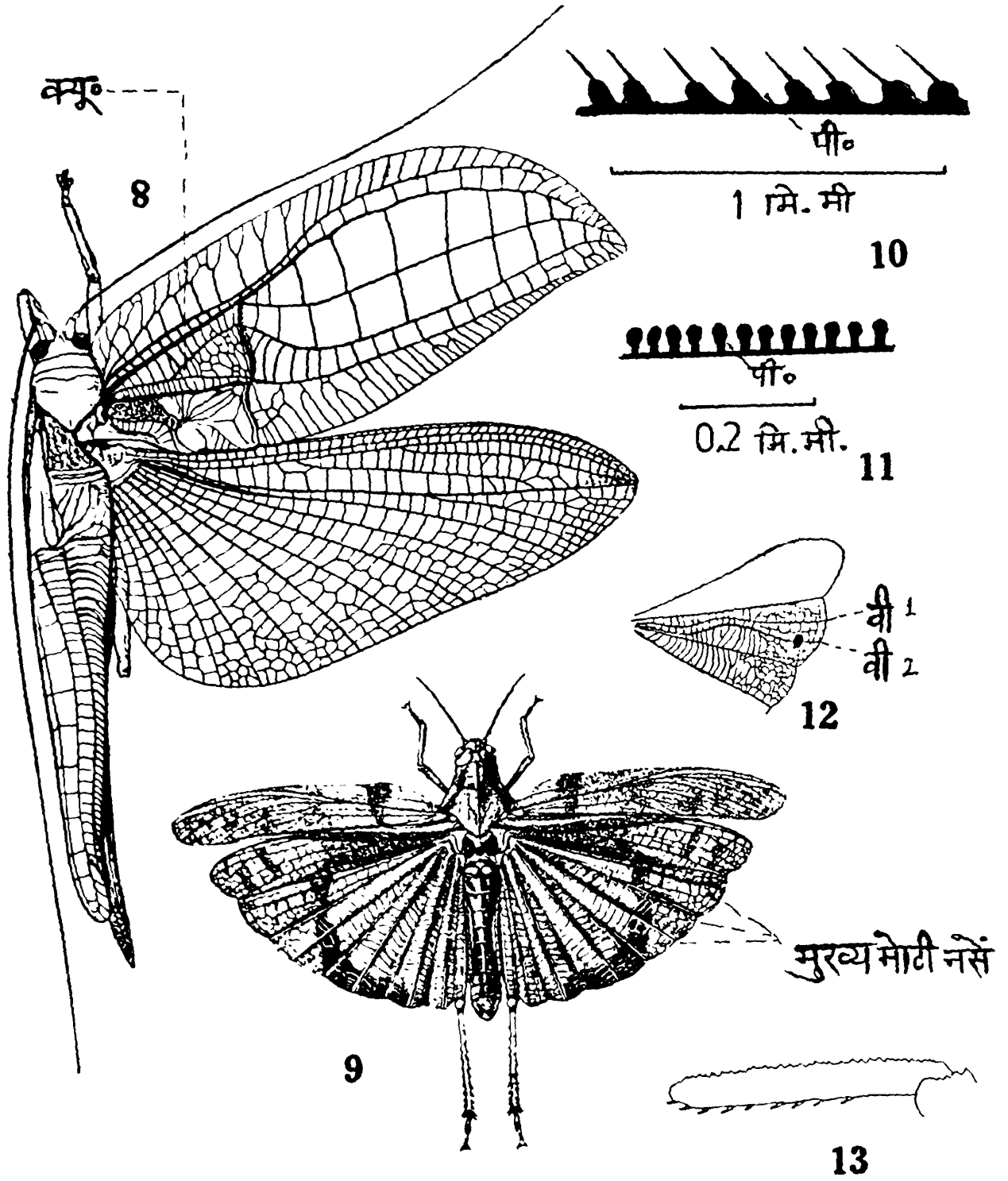
चित्र 9. नर ब्रायोडर्मा टुबरकुलेटा का द्वितीय पंख का क्रेपीटेशन के लिये विशिष्टीकरण।

चित्र 10. नर टुरुकजेलीनी उप परिवार में पिछली जाँघ की भीतरी सतह पर रेती (फाइल) का बड़ा रूप (संधित)।

चित्र 11. एरीमोग्राइलीनी उप परिवार में पिछली जाँघ की भीतरी सतह पर रेती (फाइल) का बड़ा रूप।

चित्र 12. द्वितीय पंख पर रूपान्तरित नसें। बी. 1=लहरीदार नस नं 1 ; बी. 2=लहरीदार नस नं 2 ।

चित्र 13. मध्य टखना का दाँतेदार ऊपरी किनारा।



पिछली जाँघ-प्रथम पंख यंत्र रचना (फीमोरो-टेगमिनल)
(चित्र 3, 6)

यह बहुत ही विशिष्ट है। इसे एक्कीडोडी परिवार का प्रतीकात्मक कहा जाता है, मगर वास्तव में यह केवल तीन उप परिवारों से ही सम्बन्धित है (गम्फोसेरीनी, टुरुकजेलीनी व एरीमोग्राइलीनी)। रेती (फाइल)–पिछली जाँघ पर अन्दर की सतह पर उठे हुये उभार हैं जिनमें कील अथवा खूँटी (पेगम) एक पंक्ति में स्पष्ट रूप से होते हैं। स्क्रैपर-प्रथम पंख पर एक नस (वेन) होती है जो नुकीली व उठी हुई रहती है। पिछली-जाँघ को ऊपर-नीचे करने से आवाज होने लगती है। यह जाँघ का हिस्सा मुख्य शरीर अथवा उदर से सटा रहता है। यह आवाज़ रेती व स्क्रैपर के आपस में रगड़ने से होती है। इस प्रकार की ध्वनि का विस्तार पास के प्रथम पंख के टिम्पेनम क्षेत्र से बढ़ जाता है। जब किसी चरमराहट करने वाले तृणभोज फर्तिगा का प्रथम पंख बन्द रहता है तो दोनों तरफ के प्रथम पंख के बीच वाला स्थान एक प्रतिध्वनित बक्सा बनाता है। कुछ जाति के तृणभोज फर्तिगों में पिछले पंख का मध्य क्षेत्र (मीडियन एरिया), जो बंद पंख का बाहरी हिस्सा बनाता है, भी फैला रहता है और शायद बक्सा की प्रतिध्वनित शक्ति को बढ़ाता है। इस प्रकार की यंत्र रचना मुख्य रूप से स्टेनोबोथरस वर्ग के यूरोसियस जाति में, और इसी से मिलती जुलती जाति की उत्तरी अमेरिका की ओरफुल्लेला, दक्षिण अमेरिका की क्लार्ईनोसिफेलस, डाक्रोमोरफा इत्यादि में पाई जाती है।

रेती (फाइल) पिछली जाँघ की लम्बाई के अनुसार बदलती रहती है। कील अथवा खूँटी का आकार, संख्या, तथा घनत्व जाति व वर्ग के अनुसार बदलता रहता है। नर व मादा में खूँटी की संख्या बराबर होती है, मगर मादा में इनका घनत्व कम होता है। रेती की पंक्ति में भी घनत्व बदलता रहता है। पंक्ति के पास वाले भाग में खूँटी-कील ज्यादा होती हैं और दूर वाले भाग में कम। भौगोलिक स्थिति के अनुसार भी कील में परिवर्तन होता है।

टुरुकजेलीनी उप परिवार की पिछली जाँघ के (चित्र 10) अन्दर वाली सतह पर एक पंक्ति में छोटी-छोटी दृढ़ ग्रन्थियाँ होती हैं जो चरमराहट करते वक्त प्रथम पंख के स्क्रैपर से रगड़ती हैं। प्रत्येक ग्रन्थि में नीचे वाली सतह पर एक लम्बी व सख्त रोवाँ के आकार की रचना होती है, जो इससे जुड़ी हैं और शायद वह रूपान्तरित संवेदक रोवाँ है। इस प्रकार का प्रबन्ध गम्फोसेरीनी उप परिवार से भिन्न है। यह बताया गया है कि इस प्रकार

के जुड़े हुये खूटे / कील अथवा संवेदक-रोवाँ, स्क्रैपर पर लगने से झुक जाते हैं, और एक संवेदन नाड़ी के द्वारा केन्द्रीय तन्त्रिका संस्थान को पहुँचा दिया जाता है। यह बहुत ही अच्छी तरह ताल बद्ध चरमराहट पैर की गति को नियंत्रित करता है।

स्क्रैपर माधारणतः प्रथम पंख की रेडियल नस (वेन) है जोकि दोनों तरफ से दबी हुई तेज किनारा बनाती है। मगर इसके अपवाद भी हैं।

जाँघ-प्रथम पंख यंत्र रचना गेम्फोसेरीनी उप परिवार (चित्र 7) के सदस्यों में बहुत अच्छी तरह से दिखती हैं, जिसकी वजह से यह उप परिवार एक्कीडीनी उप परिवार से अलग किया जा सकता है। इसके अलावा इस प्रकार की यंत्र रचना एक दूसरे उप परिवार (चित्र 11) एरीमोग्राईलीनी में देखते हैं। इसी का परिवर्तित रूप टुरुकजेलीनी उप परिवार में मिलता है जिमका ऊपर वर्णन किया है।

पिछला टखना-प्रथम पंख यंत्र-रचना (टीबियो-टेगनिमल)

इस प्रकार की यंत्र रचना हमें केवल हेमीएक्कीडीनी उप परिवार में ही मिलती है। इसके सदस्यों में प्रथम पंख की रेडियस और मीडिया के मध्य (रेडियल क्षेत्र) क्रमवार, समानान्तर, मोटी, अनुप्रस्थ लघु नसें एक पंक्ति में होती हैं। शायद ये लघु नसें या तो अन्दर वाले काँटे अथवा पिछले टखने के स्पर्श से रगड़ते हैं, मगर इसे प्रत्यक्ष रूप से किसी ने नहीं देखा है।

इस प्रकार के नमूने (टाइप) का रूपान्तर इडोपोडीनी उप परिवार के अफ्रीका व एशिया वाले हेटेरोपटरनिस व आस्ट्रेलिया के कोरटोईसीटस जातियों में मिलता है तथा दोनों में ही प्रथम पंख के मीडियल क्षेत्र पर घनी, मोटी, तिरछी लघु नसें होती है। शायद ये टिबियल-स्पर से रगड़ती हैं। इसमें इन्टरकेलेट-नस भी दाँतेदार होती है।

एक दूसरे प्रकार की, बहुत अधिक रूपान्तरित यंत्र-रचना जिसमें पिछले टखना के चौड़े और किनारेदार अन्दर वाले भाग के काँटे (स्पाइन) प्रथम पंख के स्क्रैपर-वेन से रगड़ते हैं। इस प्रकार की रचना अफ्रीका और एशिया के घास के मैदानों में पाये जाने वाले तृणभोज फाँटिगा की जाति में मिलती है (चित्र-13)। इनमें साधारणतः जाँघ-प्रथम पंख (फिमोरल-टेगमिनल) यंत्र रचना भी रहती है, चरमराहट करने वाली खूँटी भी बहुत अधिक विकसित होते हैं, जिसमें दो प्रकार की रेती और एक प्रकार के स्क्रैपर होते

हैं। इनका प्रथम पंख का टिम्पेनेट क्षेत्र भी बहुत अच्छी तरह विकसित रहता है।

एक और यंत्र रचना है जिसे प्रथम पंख-जाँघ (टेगमिनो-फिमोरल) प्रकार की यंत्र रचना कहते हैं। इसमें घर्षण पिछली जाँघ और प्रथम पंख के मध्य होता है मगर इनका कार्य आपस में बदल जाता है-पिछली जाँघ पर तेज स्क्रैपर के उभार होते हैं जो विशिष्ट इन्टरकेलेट नस से घर्षण करते हैं। इस इन्टरकेलेट नस पर बिना जुड़ी हुई ग्रन्थियाँ / गाँठें एक पंक्ति में लगी रहती हैं। इन्हीं ग्रन्थियों अथवा गाँठों को रेती कहते हैं जो नियमित अथवा स्थायी नस से नहीं बनती हैं बल्कि इन्टरकेलेट नस से बनती है। इस रेती के दाँत बदलते रहते हैं और कभी कभी रेती पास के क्षेत्र वाली नस से भी बनती है। इस प्रकार की यंत्र रचना इडोपोडीनी उप परिवार में मिलती है। ऐसी रचना वाले कीड़ों में कोई टिम्पेनेट क्षेत्र नहीं होता है।

जाँघ-उदर (फिमोरो-एबडोमिनल) यंत्र रचना

इस प्रकार की यंत्र रचना एक्सीडोनी उप परिवार के फोनोगेस्टर केरीनीवेन्ट्रीस जाति में मिलती है। इस यंत्र रचना में पिछली जाँघ पर एक लम्बी कतार में चरमराहट करने वाले खूँटे होते हैं, तथा उदर की बगल में चौथे-पाँचवें खण्डों पर एक जोड़ी तेज उभार होते हैं। ये उभार सकरे प्रथम पंख से नहीं ढँके होते हैं और शायद स्क्रैपर का काम करते हैं। इसके अलावा उदर पर पतली झिल्ली होती है जिसमें बड़े बड़े हवा के थैले (एअर-सेक्स) दिखाई देते हैं। इस प्रकार का प्रबन्ध प्रतिध्वनि को बढ़ाता है।

टीबी-द्वितीय पंख (टिबियो-एलर) यंत्र रचना

(चित्र 12, 13)

यह यंत्र रचना पेम्फेजीडी परिवार के बेटरेचोटेटरीजीनी उप परिवार में मिलती है। इसमें पिछले पंखों पर रूपान्तरित नसें होती हैं जिसमें मोटी साइन्यूएट नसें और टिम्पेनेट क्षेत्र होता है। बीच वाली टीबी पर ऊपर की तरफ दाँतेदार किनारे होते हैं, जो कुछ खुले हुये और तेजी से झूलते हुये पिछले पंखों से रगड़ते हैं जिससे आवाज पैदा होती है।

एक बहुत ही विलक्षण प्रथम पंख-द्वितीय पंख (टेगमिनो-एलर) यंत्र-रचना मुख्य रूप से उष्णीय अमेरिका की रोमालीनी उप परिवार में मिलती है। इसमें पिछले पंख का प्रथम वेनल क्षेत्र संकरा होता है और इसकी

झिल्ली बाहर की तरफ उभरी रहती है जिसमें वेनलेटम अनुप्रस्थ समानान्तर क्रम में दांतेदार होते हैं। जब द्वितीय पंख बन्द रहता है तो यह नली जैसा उत्तल आकार पंख के ऊपर वाले किनारे पर स्थित होता है तथा बहुत अधिक उठी हुई प्रथम पंख के नीचे स्क्रैपर नस के सम्पर्क में आता है। बन्द द्वितीय पंख के जोर के प्रकंपन से चर्मराहट होती है।

पंख कड़कड़ाना (विंग क्रेपीटेशन) यंत्र रचना

(चित्र 9)

यह सबसे साधारण तरीका है। यह उन जातियों में मिलता है जिनके पिछले पंख असाधारण रूप से बड़े व मुख्य नसे तथा नियमित आड़ी नसे मोटी होती हैं। उड़ते वक्त पिछले पंख को थोड़ा मोड़ने व तेजी से फैलाने से खड़खड़ की आवाज पैदा होती है। ऐसा कहा गया है कि यह आवाज या तो पंख को पिछली टांग अथवा प्रथम पंख से पीटने से होती है। कुछ का कहना है कि मोटी नसों को कुचल देने से आवाज कम हो जाती है। इस प्रकार की यंत्र रचना इडोपोडीनी में मिलती है (ब्रायोडरमा, सरकोटेक्टिस डिस्सोस्टेरिया, हेलिय.ससिरटस इत्यादि जातियों में) मगर इस प्रकार की आवाज दूसरे भिन्न कीड़ों में भी पाई जाती है। यह नमूना (टाइप) केवल एक चर्म विशिष्ट आवाज पैदा करता है, क्योंकि कुछ न कुछ आवाज उड़ने से पैदा होती ही है, चाहे पंख में रूपान्तर हो या न हो, जैसे प्रजनन उड़ान (मेटिंग फ्लाइट), जो नर लोकस्टा में होती है। इस प्रकार की उड़ान आवाज (फ्लाइट नोइज), संभवतः सभी उड़ने वाली जातियों में मिलती है। इसका अध्ययन केवल सिस्टोसरका में किया गया है जिसका श्रृंखला लाखों की संख्या में होता है तथा उसकी ध्वनि दूर से ही सुनी जा सकती है।

टेटीगोनीडी परिवार (चित्र 8) में आवाज दोनों प्रथम पंखों को आपस में रगड़ने से होती है। प्रत्येक प्रथम पंख (टेगमन) में एक गोलाकार क्षेत्र होता है जोकि क्यू 2 नम और क्यू. नस की एक शाखा से मिलकर बना होता है। इस क्षेत्र के पीछे की तरफ चर्मराहट करने वाली ए 1 नस होती है। गोलाकार क्षेत्र दाये प्रथम पंख में बहुत अच्छी तरह विकसित होता है जिसे “मिरर” कहते हैं। बाये प्रथम पंख की चर्मराहट करने वाली नस के ऊपर छोटे छोटे दांत जैसे आकार की रचनाये होती है जिन्हें रेती (फाइल) कहते हैं। दाये प्रथम पंख के किनारे से रेती (फाइल) को रगड़ने से घर्षण-ध्वनि पैदा होती है जिसमें “मिरर” प्रतिध्वनि बवसा का कार्य करता है। किसी किसी जाति में पिछला पंख नहीं होता है तथा प्रथम पंख केवल चर्मराहट क्षेत्र तक ही सीमित होता है।

ग्राइलीडी परिवार में (चित्र 1) भी **टेटीगोनीडी** जैसा ही चरमराहट यंत्र रचना होती है, मगर चरमराहट क्षेत्र बड़ा होता है तथा दोनों प्रथम पंख एक जैसे होते हैं। मिरर क्यू. 2 तथा क्यू. 1 नसों की शाखा से घिरा रहता है जोकि पीछे की तरफ स्थित होता है तथा नस क्यू. 2 व ए. 1 के क्षेत्र पर आड़ी नसें होती हैं जो 'हार्प' बनाती है। ए 1 चरमराहट नस या रेती (फाइल) होती है जिसके ऊपर दांत एक पंक्ति में रहते हैं, जबकि एक छोटा सा भाग प्रत्येक प्रथम पंख के पीछे की तरफ होता है जिसे स्क्रैपर कहते हैं। चरमराहट के समय प्रथम पंख उदर के साथ 45° का कोण बनाता हुआ उठा रहता है तथा आगे पीछे रगड़ता चलता है। हालाँकि दोनों प्रथम पंख एक जैसे होते हैं मगर ऐसा कहा गया है कि आवाज़ हमेशा बायें पंख के स्क्रैपर को, दायें पंख की रेती (फाइल) से रगड़ने पर होती है जो मिरर को कंपा देता है और तेज आवाज़ होने लगती है। इसका सबसे ऊच्छा उदाहरण हमें **ब्रॉकिट्राइपस पोरटेन्सोसिस** में मिलता है।

ग्राइलेकरीडी परिवार में दूसरे प्रकार की घर्षण ध्वनि यंत्र रचना होती है। इसमें उदर भाग के खण्ड 2 और 3 के उभार पिछली जाँघ से घर्षण करते हैं। कुछ वैज्ञानिकों ने यह बताया है कि प्रत्येक जाति के अन्दर एक विशेष प्रकार की घर्षण ध्वनि पैदा होती है, और प्रत्येक प्रकार की घर्षण ध्वनि में विभिन्न प्रकार की आवाज़ आती है। आर्थोपटेरा के कीड़ों की घर्षण-ध्वनि का बिजली के तरीकों के विश्लेषण करने से पता-चलता है कि घर्षण-ध्वनि एक जटिल लक्षण है। **ग्राइलस एसीमोलिस** में साधारण आवाज़ में $\frac{1}{3}$ भाग सेकिण्ड के विराम के बाद लगातार 'चिप्स' आवाज़ होती है। और प्रत्येक चिप्स में 2-6 छोटी पलसेस होती है जिसके मध्य आवाज़ की तरंगें 5,000 प्रति सैकिण्ड की आवृत्ति से फैलती हैं।

उपरोक्त केवल आवाज़ पैदा करने की मुख्य यंत्र रचनायें हैं। इनकी भिन्नता बताती है कि आवाज़ पैदा होना, और उसका बोध होना कीड़ों की जिन्दगी में एक मुख्य भूमिका अदा करती है। लेकिन एक विशेष बात यह है कि यह यंत्र रचना तालबद्ध अथवा दूसरे प्रकार की गति पर आधारित है, जो मौलिक रूप से आवाज़ पैदा करने से सम्बद्ध नहीं है, क्योंकि यह उन जातियों में भी मिलती है जो कोई भी आवाज़ नहीं करती हैं। वास्तव में यह विश्वास किया जाता है कि घर्षण-ध्वनि एक प्रतीकात्मक गुण है जो तृणभोज फतिगा में मिलता है, मगर साधारणतया यह सत्य से दूर है। इस प्रकार का विश्वास समशीतोष्ण भागों के फतिगों का अध्ययन करने से हुआ है, जहाँ अधिकतर फतिगे **इडोपोडीनी** व **गम्फोसेरीनी** उपपरिवार से

मिलकर बने हैं। वास्तव में पूरे संसार के अधिकतर तृणभोज फाँटिंगा केटेनटोपीनी, पिरगोमोरफोडी तथा अक्रोडीनी वर्ग में आते हैं जिनमें आवाज पैदा करने की यंत्र रचना नहीं होती है, अथवा बहुत कम विकसित होती है जैसाकि ऊपर बताया गया है।

सन्दर्भ

- डर्श, बी. एम. 1975. क्लासीफिकेशन आफ दी अक्रोडोमोरफोइड इन्सेक्ट्स। फॉरिंगडन, इंग्लेन्ड: ई. डब्लू. क्लास्से लिमिटेड: viii+171 पृष्ठ।
- ईम्स, ए. डी. 1963. ए जनरल टेक्स्ट बुक आफ एन्टोमोलोजी (संपादक रिचर्ड एवं डेविस)। एशिया पबलिशिंग हाउस, बम्बई : x+866 पृष्ठ।
- उवाराव, बी. पी. 1966. ग्रासहोपर्स एण्ड लोकस्टस, प्रथम भाग। केम्ब्रिज पबलिकेशन फार एन्टी-लोकस्ट रिसर्च सेन्टर एट दी यूनीवर्सिटी प्रेस : xi+481 पृष्ठ।

मिट्टी की प्राणि-सम्पदा

अशोक कान्ति सान्याल

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता

मिट्टी, जल, वायु, प्राणी एवं वनस्पति—इन उपादानों के समन्वय से ही बना है हमारा पर्यावरण। इनकी अभिव्यक्ति एक दूसरे पर निर्भर है। अतएव पर्यावरण के बारे में सोचने पर, इन सभी उपादानों को सही रूप से न जानें, तो अनेक महत्वपूर्ण विषय अज्ञात पड़े रहेंगे। इसी प्रकार का महत्वहीन होकर पड़ा हुआ एक विषय है मिट्टी में पाई जाने वाली प्राणी सम्पदा।

इस दुनिया में कुल कितने प्राणी हैं, उनका ठीक ठीक हिसाब देना कठिन है। उनकी संख्या कई करोड़ तो अवश्य ही होगी। इन करोड़ों प्राणियों के बीच जो घर और भोजन के लिए प्रत्यक्ष रूप से मिट्टी पर निर्भर हैं, वे ही मिट्टी के प्राणी हैं। इनमें सभी मिट्टी के नीचे नहीं रहते। बहुत से मिट्टी के ऊपर रहते हैं। लेकिन अण्डे देने के समय वे मिट्टी के नीचे चले जाते हैं। भली प्रकार खा-पीकर वंश वृद्धि करने के लिए प्रत्येक प्राणी की आवश्यकताएँ हैं : निर्दिष्ट मात्रा में जगह, वायु, ताप, जल, नमक, जैव पदार्थ एवं विभिन्न खनिज पदार्थों की। मिट्टी में इन अति आवश्यक तत्वों की मात्रा एवं गुण विभिन्न जगहों एवं ऋतुओं में भिन्न-भिन्न हैं। इसीलिए हर जगह और हर ऋतु में मिट्टी में प्राणियों की संख्या और रूप में भी भिन्नता है। मिट्टी के ऊपरी भाग में अर्थात् 0.5 सेंटी मीटर गहराई तक जितने प्राणी रहते हैं, मिट्टी की गहराई में जायें तो उनकी संख्या कम होती जायेगी। और 15 सेंटी मीटर से अधिक गहराई में तो क्षुद्र प्राणी न के बराबर रहते हैं। वे रहेंगे भी कैसे? गहरी मिट्टी में ऊपर से पड़ने वाला दबाव बहुत अधिक है। अत्यधिक दबाव के फलस्वरूप इन छोटे-छोटे प्राणियों को चलने फिरने में बहुत श्रम करना पड़ता है, और जैव-अजैव खाद्य एवं वायु का अभाव तो है ही।

मिट्टी के सभी प्राणी जीवन भर मिट्टी में नहीं रहते। कुछ प्राणी केवल वयस्क जीवन ही मिट्टी में बिताते हैं। वे अण्डे देने से पहले मिट्टी के ऊपर आ जाते हैं। और उनके बच्चे वहीं बड़े होकर मिट्टी के अन्दर चले जाते हैं। यह क्षण भर के अतिथि हैं। इनका एक और समूह अपना वयस्क जीवन मिट्टी के ऊपर बिताता है एवं अण्डे देने से पहले चले जाते हैं मिट्टी के नीचे। वहीं ये अण्डे देते हैं और बच्चे भी वहीं बड़े होते हैं। ये मिट्टी के अस्थायी प्राणी कहलाते हैं। तीसरे समूह के वयस्क प्राणी कुछ दिन मिट्टी के ऊपर रहने के बाद मिट्टी के नीचे आकर कुछ दिन और बिताते हैं। इसके बाद वहाँ अण्डे देते हैं और उनके बच्चे मिट्टी के ऊपर आ जाते हैं। इन्हें सामयिक प्राणियों का समूह कहते हैं। इनके अलावा कुछ स्थायी मिट्टी के प्राणी भी हैं। ये कभी भी मिट्टी के ऊपर नहीं आते। मिट्टी के कुल प्राणियों में केवल 5% ही स्थायी समूह के हैं। इसके अलावा विशेष स्वभाव के कारण कुछ गुबरैले (बीटल) एवं मेंढक दिन में मिट्टी में रहते हैं और रात को बाहर निकल आते हैं। कुछ ऐसे भी बरई हैं जो दिन में मिट्टी छूते तक नहीं, पर रात मिट्टी में ही बिताते हैं।

मिट्टी के नीचे न तो प्रकाश है, न ही स्वच्छन्दता से घूमने-फिरने के लिए पर्याप्त जगह। जल एवं वायु की भी कमी है। किन्तु इस विचित्र वातावरण में भी प्राणियों की संख्या कुछ कम नहीं है। एक एकड़ उर्वर जमीन में कीड़े-मकोड़ों की संख्या ही लगभग दस लाख होती है। किसी उर्वर जमीन में विशेष कुछ प्राणियों की संख्या लगभग कितनी हो सकती है, इसका व्यौरा निम्नलिखित है—

एककोपीय प्राणी	50,00,000	प्रति ग्राम मिट्टी
कृमि	200,00,000	प्रति एकड़ जमीन
मेटापोड प्राणी	10,00,000	„ „ „
अंगुरीमाल प्राणी	10,00,000	„ „ „
सन्धिपद प्राणी	10,00,000	„ „ „

इस परिस्थिति के कारण इन प्राणियों का रूप अन्य प्राणियों से काफी भिन्न है। इनका रंग बहुत हल्का एवं आकार बिल्कुल छोटा (0.02-10 मिली मीटर) होता है।

इनके सारे शरीर में संवेदनशील सूक्ष्म रोएं होते हैं। इनमें प्रायः सभी की आँखें नहीं होती। इनके बीच जिनके मुँह में दाँत की तरह वस्तु होती है वे शैवाल, फफूंद, जीवाणु (बैक्टीरिया) एवं जीवित या मृत वनस्पति और

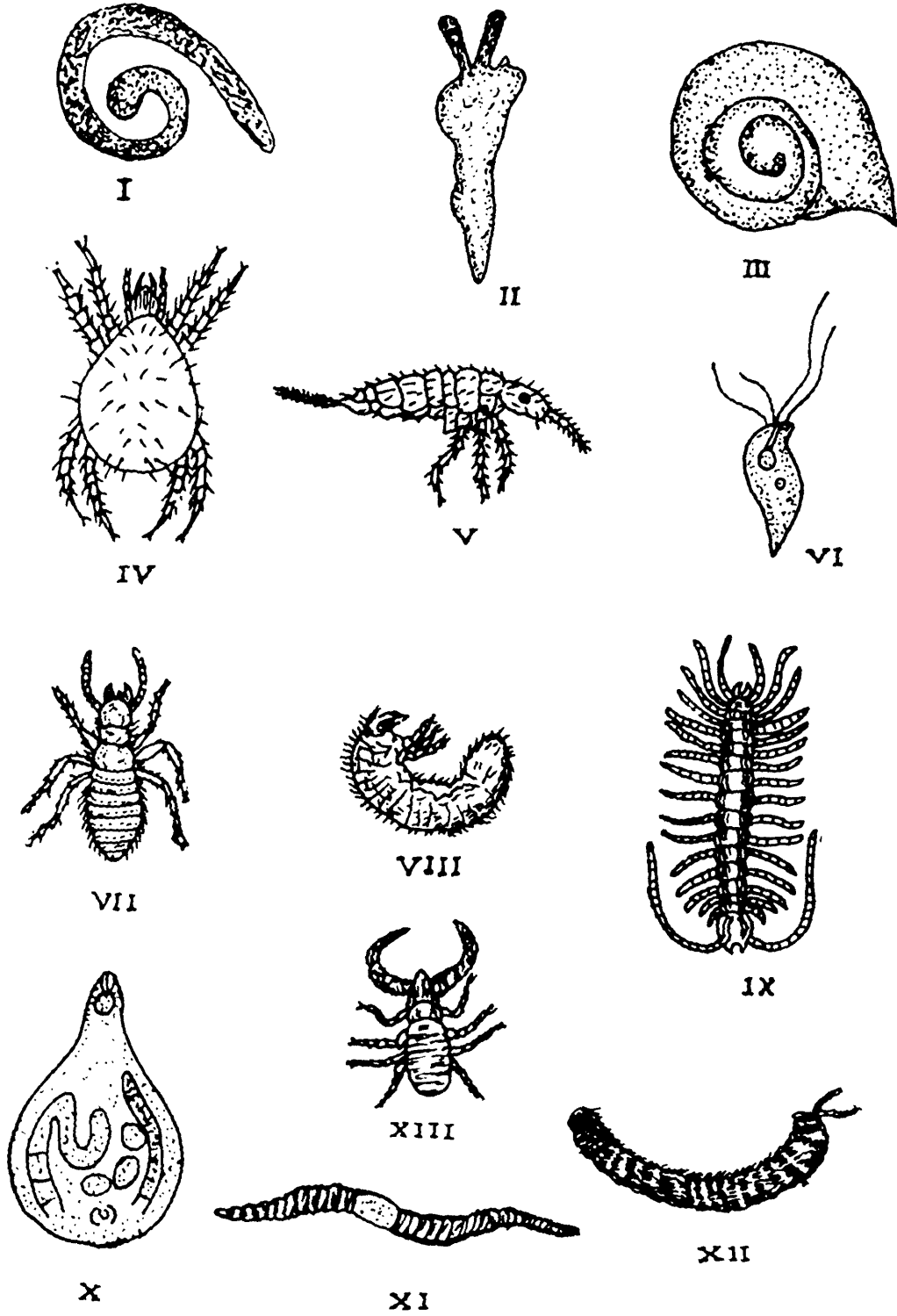
प्राणी खाते हैं। मुँह में लगी महीन सुई की भाँति नली से वृक्षों की जड़ों और प्राणियों के शरीर से रस चूस लेते हैं। इनमें से अनेक प्राणियों के पैर के अगले हिस्से में तोखे नाखून होते हैं जिसके द्वारा वे मिट्टी में चलने का रास्ता बनाते हैं। इनके शरीर में फेफड़े नहीं होते। श्वास का काम शरीर के खोल से ही चलाते हैं। इनका विशेष स्वभाव है कि वे रोशनी और गर्मी से दूर रहना पसन्द करते हैं।

जो पूर्णतया मिट्टी के प्राणी हैं, उनके अण्डे देने का कोई विशेष समय नहीं है। वे वर्ष के किसी भी समय अण्डे देते हैं। इन अण्डों से फूटकर बच्चे निकलने में सात दिन से लेकर दो महीने तक का समय लगता है। ये बच्चे कुछ दिन तक अलग-अलग रूपों में रहकर वयस्क प्राणी में बदल जाते हैं।

एक कोषीय प्राणी से लेकर स्तनपान कराने वाले जन्तु तक करीब सभी वर्ग के कोई न कोई प्राणी मिट्टी में जीवन बिताते हैं। इनमें गोल कृमि, सूत्र कृमि, घोंघा (शाम्बुक), केंचुए, प्रायः सभी वर्ग के कीड़े, चिचड़ी (माईट), टिक्स, मकड़ी, सहस्रपाद, बिच्छू इत्यादि हड्डी विहीन प्राणी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं (देखें चित्र 1)। रीढ़ की हड्डी वाले प्राणियों में हैं मेंढक, साँप, गिरगिट, कुछ पक्षी, छछुन्दर एवं चूहे जो मिट्टी के अन्दर समय बिताते हैं।

मिट्टी के स्थाई प्राणी बहुत ही छोटे एवं अंधे होते हुए भी मनुष्यों के लिए बहुत उपयोगी हैं। यदि ये न रहते तो उर्वर मिट्टी ही तैयार नहीं होती। इसके अलावा मिट्टी के ऊपर की गन्दगी को सड़ाकर मिट्टी की उर्वरता में वृद्धि करने में इनका विशेष योगदान है।

पत्थर के ऊपर वायु, तापमान का हेर-फेर, ऊपर जमे हुए बर्फ का दबाव, जल का प्रवाह, मध्याकर्षण का दबाव, विभिन्न रासायनिक वस्तुएँ और छोटे-छोटे वनस्पति और प्राणियों के प्रभाव से तैयार होता है निर्जीव पत्थरों का महीन चूर्ण अथवा पत्थर की धूल। यही पत्थर की धूल वायु एवं जल के प्रवाह से जाकर किसी समतल भूमि पर जमा होती है। वहाँ सबसे पहले हवा में उड़कर जीवाणु और फफूंद आकर उपस्थित होते हैं। इनके बाद वहाँ आते हैं शैवाल, लाइकेन, मौस और बहुत से एक कोषीय एवं बहु कोषीय प्राणी। वहाँ के खनिज पदार्थ एवं जल पर निर्भर होकर ये प्राणी संख्या में बढ़ते रहते हैं और फिर एक दिन मर जाते हैं। पहले वनस्पति सूखती है। इस सूखी वनस्पति को जीवाणु, फफूंद और विभिन्न



चित्र 1-मिट्टी में पाये जाने वाले कुछ प्राणी

I. सूत्र कृमि, II. लसलमा घोंघा (स्लग), III. घोंघा, IV चिचड़ी (माईट्)
 V स्प्रिगटेल कीट (कोलेमबोला) VI. एककोषीय प्राणी, VII. दीमक,
 VIII. गुबरैला का लार्वा, IX. कनखजूरा या काँतर (स्कोलोपेन्डा) X. गोल
 कृमि, XI. केंचुआ, XII. महस्रपाद, और XIII. छद्म बिच्छू।

प्राणी खाते हैं। फलस्वरूप पहले वहाँ वनस्पति सड़ जाती है और धीरे-धीरे महीन कणों में परिवर्तित होकर पत्थर की धूल में मिल जाती है। इस प्रकार अजैव पत्थर की चूर्ण के साथ कुछ जैव पदार्थ मिलने पर वहाँ वायु के साथ उड़कर घास और छोटे-छोटे पौधों के बीज आते हैं। वही बीज फूटकर घास का जंगल बन जाता है। इस जंगल में फूल एवं फल खाने और रस पीने के लिए अनेक प्राणी जैसे केंचुए, कीड़े, मकोड़े इत्यादि आते हैं। यह भी एक दिन मर कर मिल जाते हैं पत्थर के चूर्ण में। परिणाम-स्वरूप समय के साथ पत्थर के चूर्ण में जैव पदार्थ की मात्रा बढ़ती रहती है। इसके बाद इन जैव पदार्थों को खाने आते हैं अन्य अनेक प्रकार के छोटे-बड़े प्राणी। इन प्राणियों के ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर आने जाने के कारण पत्थर के चूर्ण में जैव पदार्थ भली प्रकार मिल जाते हैं। इनके बाद वहाँ बहुत दिन तक विभिन्न प्रकार के भौतिक एवं रासायनिक प्रक्रिया के फल-स्वरूप असली मिट्टी बनती है। आश्चर्य की बात तो यह है कि एक इंच मिट्टी तैयार होने में लगभग 300 वर्ष का समय लगता है। अब प्रश्न यह उठता है कि तैयार मिट्टी में जो असंख्य प्राणी रहते हैं उनकी क्या भूमिका है? वे जैव गन्दगी को सड़ाकर मिट्टी में मिलाकर मिट्टी की उर्वरता में वृद्धि करते हैं। इसके अलावा मिट्टी में इनके चलने-फिरने से जो अत्यधिक संकरा रास्ता तैयार होता है उसमें से वायु और जल प्रवाहित होता है, जो मिट्टी के सुस्वास्थ्य के लिए परम आवश्यक है। पदार्थों को सड़ाने के लिए जो जीवाणु और फफूंद आवश्यक हैं वह भी वहीं पर घर बनाते हैं।

कुछ मिट्टी के प्राणी मनुष्यों के लिए हानिकारक भी होते हैं। इनमें से कुछ चिचड़ी के शरीर में हानिकारक कृमि रहते हैं। ये शाकाहारी पालतू जानवरों के भोजन के साथ उनके शरीर में प्रवेश कर जाते हैं और ये कृमि विभिन्न बीमारियों को जन्म देते हैं। कुछ और मिट्टी के क्षुद्र प्राणी वनस्पति की जड़ों को नष्ट करके पौधों को सुखा देते हैं।

अतएव यह स्पष्ट है कि पर्यावरण के एक महत्वपूर्ण उपादान मिट्टी की रक्षा करने में इन प्राणियों की महत्वपूर्ण भूमिका है। अब सोचना है कि मृत्तिका दूषण के प्रभाव से मिट्टी के प्राणियों को काफी क्षति हो रही है। खेतों एवं फसलों में जो खाद एवं कीटनाशक और जीवाणुनाशक दवाइयों का प्रयोग किया जाता है, उनमें से कुछ इन प्राणियों को मार देते हैं। इसके अलावा कारखानों की गन्दगी, विभिन्न तेजस्क्रिय वस्तुएँ एवं अम्ल वृष्टि जनित गन्धक और नाइट्रोजेन-आक्साइड इन प्राणियों को क्षति पहुँचाते हैं। जंगलों के नष्ट होने के कारण भूमि क्षरण होता है और वहाँ जैव गन्दगी

जमा नहीं हो पाती, फलस्वरूप जैव खाद्य के अभाव में मिट्टी के क्षुद्र प्राणी मर जाते हैं और मिट्टी की उर्वरता खत्म हो जाती है। अतएव मिट्टी में रहने वाले प्राणियों के महत्व को ध्यान में रखते हुए उपजाऊ मिट्टी की यथा सम्भव रक्षा करके उसकी प्राणि-सम्पदा को बचाये रखना आवश्यक है।

आभार ज्ञापन

इस लेख को तैयार करने में श्रीमती मिलि सान्याल के सहयोग एवं परामर्श के लिए मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

चींटियों की समाज व्यवस्था

रघुनाथ तिवारी

भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण, कलकत्ता

क्या मानव समाज जैसी विकसित समाज व्यवस्था किसी अन्य प्राणी में भी पायी जाती है? क्या कोई अन्य प्राणी भी अपने आप को सामाजिक प्राणी कहने का गर्व रखता है? जो हाँ, मानव समाज के अतिरिक्त भी अन्य प्राणी समाज हैं, जहाँ मानवों की भाँति ही विकसित एवं सुव्यवस्थित सामाजिक व्यवस्था पायी जाती है, और वह है—कुछ कीड़ों में पायी जाने वाली समाज व्यवस्था। चींटियाँ, दीमक एवं मधु-मक्खियाँ, इस सामाजिक व्यवस्था के लिए अति प्रसिद्ध हैं।

हम अपने दैनिक जीवन में, प्रतिदिन चींटियों की व्यस्तता को देखते हैं, कि किस प्रकार पंक्तियों में ये अपने आहार की खोज में विचरण करती हैं। क्या कभी आपने सोचने की कोशिश की है कि वह कौन सी शक्ति है जो इन सैकड़ों हजारों चींटियों को एकबद्ध कर, एक संतुलित जीवनयापन करने को बाध्य करती है? यह शक्ति है—एक सुनियोजित समाज व्यवस्था। एक ऐसी समाजव्यवस्था जिसमें प्रत्येक चींटी को एक विशेष कार्य सौंप दिया गया है, और इन व्यक्तिगत कार्यों को संपादित करते हुए भी, प्रत्येक वर्ग अपने समाज के प्रति जागरूक है। इस प्रकार की समाजव्यवस्था, अपने समाज के प्रत्येक प्राणी की सुरक्षा, भोजन एवं वासस्थान की सुविधा का पूरा प्रबन्ध करती है।

चींटियों की सामाजिक व्यवस्था के साथ, इनके रहन सहन, दिनचर्या तथा गतिविधियों पर नजर डालने से बड़े रोचक परिणाम मिलते हैं। चींटियों के समाज के श्रेणी विभाजन पर ध्यान दें, तो हम देखते हैं, कि उनमें निम्न श्रेणियाँ हैं :

(1) मजदूर वर्ग,

- (2) प्रजननकारी मादा,
- (3) सैनिक या लड़ाकू चींटियाँ, तथा
- (4) सक्षम नर वर्ग।

उपरोक्त प्रकार की सभी चींटियों के अपने विशेष कार्य होते हैं। इन उत्तरदायित्वों को सहज एवं सुनियोजित ढंग से निर्वाह करते हुए भी, प्रत्येक वर्ग, अपने समाज के प्रति अधिक से अधिक जागरूक होता है। इनकी समाज व्यवस्था में “अपना” कहने का कुछ नहीं है और न कोई प्राणी अपनी व्यक्तिगत सुविधाओं के लिए ही कार्यरत रहता है। ऐसा यदि होता तो प्रत्येक चींटी अपनी भूख मिटा कर, एक कोने में अकर्मण्य पड़ी रहती। पर क्या आपने कभी किसी चींटी को अकर्मण्य देखा है? हम देखते हैं सिर्फ कार्यरत, दौड़ती हुई चींटियों को।

अब चलें, जरा इन चींटियों के बिलों या सुरंगों में झाँक कर देखें कि ये अपने वासस्थानों में किस प्रकार का जीवन-यापन करती हैं?

आराम

चींटियों के आवास की रचना एवं प्रक्रियाओं को समझने में चींटी विशेषज्ञ ह्यूबर, लुबौक और जेनेट का विशेष योगदान है। इनके मतानुसार चींटियाँ हर समय कार्यरत नहीं रहती हैं, बल्कि अन्य प्राणियों की भाँति ये भी आवश्यकतानुसार आराम करती हैं। जब कोई भी चींटी, अपनी लम्बी यात्रा से अपने साथ भोजन या अन्य उपयोगी वस्तुओं को लेकर अपने बिलों में लौटती है, तो उसकी सहकर्मी चींटियाँ उन्हें भार मुक्त कर उसे आराम हेतु जगह उपलब्ध कराती हैं। कुछ चींटियाँ उसके शरीर को अपनी जिह्वा द्वारा चाटती हैं और उसको मैल से मुक्त करती हैं। तत्पश्चात् अपनी आराम की अवधि में थकान को दूर कर, फिर से अपने नियुक्त कार्य के लिए बिल्कुल प्रस्तुत हो जाती हैं।

मूक भाषा

चींटियों की मूक भाषा का अध्ययन सर्वप्रथम ह्यूबर नामक विशेषज्ञ ने किया। उन्होंने इस मूक भाषा का पूरा उत्तरदायित्व चींटियों के घ्राणतन्तु (ऐन्टीना) पर ही दिया। पर उन्हें उस समय यह पता न था कि ये विशेष अंग गंध या संवेदन के लिए ही बने हैं।

ऐन्टीना द्वारा चींटियाँ अपनी भावनाओं को अपने सहकर्मी को निम्न-प्रकार से प्रकट करती हैं:-

(1) अगर कोई चींटी किसी सहकर्मी चींटी के सिर या अन्य भाग पर अपने ऐन्टीना द्वारा धीरे से थपकी दे, तो इसका अर्थ है कि वह अपने सहकर्मी से कुछ खाने की माँग कर रही है।

(2) अगर कोई चींटी किसी सहकर्मी चींटी को झटके से अपने ऐन्टीना द्वारा प्रहार कर स्वयं कुछ दूर हट जाती है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह अपने सहकर्मी चींटी को किसी नए आवासस्थान की तरफ उसे ले जाने का निमन्त्रण दे रही है, या ठीक इसी प्रकार का संदेश उस समय भी सहकर्मी चींटियों को दिया जाता है जब कोई खाद्य सामग्री अधिक मात्रा में कहीं दिखाई पड़ती है।

(3) अगर कोई चींटी, अपने जबड़ों को खोलकर तेजी से अपने ऐन्टीना को किसी सहकर्मी-चींटी पर प्रहार करती है तो इसका तात्पर्य है कि वह लड़ाई के लिए सहकर्मी चींटी को उकसा रही है।

(4) जब कभी कोई चींटी, किसी अन्य सहकर्मी चींटी को अपने सिर से प्रहार करती है, तो इसका अर्थ है कि वह किसी खतरे की सूचना देती है।

(5) अगर कई चींटियाँ, चारों तरफ से घेर कर किसी विशेष चींटी को अपने ऐन्टीना द्वारा थप-थपानी हैं तो इसका तात्पर्य है कि सभी उस चींटी के गुस्से को शान्त करने की चेष्टा कर रही हैं।

(6) विपरीत दिशाओं से आती हुयी चींटियाँ कभी अपने पिछले पैरों पर खड़ी होकर अपने ऐन्टीना को, किसी दूसरे के ऐन्टीना से स्पर्श करती है, तो इसका अर्थ है कि आगे का रास्ता साफ है, निर्भय आगे बढ़ो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किस सहज भाव से चींटियाँ अपनी भावनाओं खोज, एवं व्यग्रताओं को अपने सहकर्मियों तक व्यक्त करने में सफल होती हैं। उनकी मूक भाषा में मिथ्या का कोई स्थान नहीं होता और न होता है आपसी गलत समझ-बूझ का।

शौच कर्म और शारीरिक सफाई

दिन भर कार्यरत होने के बाद चींटियाँ अपनी सफाई में जुट जाती हैं।

भोजन की खोज में कार्यरत चींटियों का पूरा शरीर धूलधूसरित हो जाता है। वे इन धूल और मैल के कणों को व्यक्तिगत रूप से अपने पैरों में पाए जाने वाले कंघीनुमा स्पर् से साफ करती हैं। पर कभी कभी इस क्रिया में उसे अपने सहकर्मी चींटी की भी मदद लेना जरूरी होता है। इससे सिर्फ वे अपने शरीर की सफाई ही नहीं करतीं, बल्कि हल्के-फुल्के मालिस का भी आनन्द लेती हैं, और अन्त में अगले दिन के लिए अपने आपको स्फूर्तिमय पाती हैं।

अन्डा देना

चींटियों के आवासस्थान का अवलोकन किया जाय तो हम देखते हैं कि वहाँ पर सुरंगों की भरमार है। अलग-अलग सुरंगें, अलग गंतव्य स्थानों तक पहुँचती हैं। कहीं तो खाद्य सामग्री एकत्रित रूप में रखी गई है, तो कहीं मादा चींटियाँ अन्ड देने में व्यस्त पायी जाती हैं। मादा द्वारा दिए गए अन्डों को मजदूर चींटियाँ अलग-अलग कोठरियों में सुव्यवस्थित रूप में सजाती हैं। मादा चींटी जब अन्डे देने में व्यस्त रहती है तो कुछ मजदूर चींटियाँ, उसके विभिन्न अंगों को चाटते हुए, उसे आराम पहुँचाने की कोशिश करती हैं। यहाँ तक कि अन्डे देने की क्रिया में अगर कोई अन्डा उसके योनिद्वार में अवरुद्ध हो जाता है, तो तुरन्त मजदूर चींटी अपने मैन्डीबिल द्वारा उसे खींच कर अलग कर देने में सक्षम होती हैं। अन्डे, लार्वा इत्यादि की समुचित देख-रेख का भार, इन मजदूर चींटियों पर ही होता है।

भोजन का आदान प्रदान

चींटियाँ अपने बिलों या अन्य निवासस्थान में संग्रहित भोजन को विशेष समय के लिए सुरक्षित रखती हैं। वे भोजन संग्रह करते समय ही अपना पेट भर लेती हैं, पर अन्य सहकर्मी चींटियाँ जो बिलों में, अन्य कार्यों में रत रहती हैं, मजदूर चींटियों की राह देखती रहती हैं, कि वे कब आएँ और ये अपनी भूख मिटाएँ। जैसे ही मजदूर चींटियाँ घरों में लौटती हैं, भूखी चींटियाँ उन्हें घेर लेती हैं और उसे संग्रहित भोजन (नेक्टर) को वमन हेतु आमंत्रित करती हैं। जैसे ही मजदूर चींटी अपने भोजन का कुछ अंश वमन करती है, दूसरी चींटियाँ उसे ग्रहण कर अपनी भूख मिटाती हैं।

खतरे की घण्टी

प्रत्येक आवासस्थान के द्वार पर मजदूर चींटियाँ पहरा देते हुए पायी जाती हैं। अगर कोई दुश्मन उनके घरों पर आक्रमण करने की चेष्टा करता

है, तो द्वार रक्षक मजदूर चींटी दौड़ते हुए भीतर जाती है और आक्रमण की सूचना अपने सहकर्मी चींटियों को दे देती है, जो अलग-अलग सुरंगों से, इस सूचना को चारों तरफ पहुँचा देती हैं। इस आपात परिस्थिति में लड़ाकू चींटियाँ का दल, रक्षा-हेतु, द्वार की तरफ दौड़ता है, जब कि मजदूर चींटियाँ, अण्डों को निचले तहों में पहुँचाने की कोशिश करती हैं। साथ ही साथ, संग्रहित खाद्य पदार्थों की रक्षा का भार भी मजदूर चींटियों पर ही होता है, जो पंक्तिबद्ध होकर खतरे से जूझने का काम करती हैं।

स्थानान्तरण

जब कोई आपातकाल परिस्थिति उत्पन्न होती है, जैसे आक्रामक कीट पतंगे या अन्य दुश्मनों का आक्रमण, ऐसी अवस्था में चींटियों के लिए अपना वासस्थान छोड़ना आवश्यक हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में, चींटियाँ अपनी सुरंगों में होकर जो भीतर ही भीतर दूसरी तरफ खुलते हैं, बाहर निकलने की कोशिश करती हैं। सर्व प्रथम, मजदूर चींटियाँ, नये वासस्थान का चयन करती हैं। उपयुक्त स्थान मिलते ही, भीतर ही भीतर, अपने अण्डों एवं एकत्रित भोज्य पदार्थ को लेकर, नये वासस्थान में स्थानान्तरण कर अपने आपको सुरक्षित कर लेती हैं।

भारतीय व्याध-पतंगों का वर्गीकरण

महावीर प्रसाद

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता

व्याध-पतंगों को प्रायः आम बोलचाल की भाषा में जुलाहा या त्योड़ा तथा अंग्रेजी में ड्रैगनफ्लाई तथा डैमसलफ्लाई कहते हैं। ये कीड़ों के ओडोनेटा वर्ग के सदस्य हैं। ये अपनी शरीर-रचना, रंग तथा उड़ने की कला के कारण कीट जगत में प्रसिद्ध हैं। एसाहिना (1974) ने दूर पूर्वी देशों के व्याध-पतंगों का संग्रह करके उनके वर्गीकरण का वर्णन किया, परन्तु भारतीय उपमहाद्वीप में इन व्याध-पतंगों के ऊपर अधिक कार्य नहीं हुआ है। इस संदर्भ में फ्रेजर (1933) ने व्याध-पतंगों के वर्गीकरण सिद्धान्त का अल्प वर्णन किया है। मित्रा (1975), कुमार (1985) और कुमार एवं खन्ना (1983) ने प्रौढ़ तथा लार्वा व्याध-पतंगों का व्यौरा दिया है।

व्याध-पतंगों का वर्गीकरण अध्ययन के अनुसार दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : 1. स्वतंत्रता के पूर्व का अध्ययन 2. स्वतंत्रता के पश्चात का अध्ययन। स्वतंत्रता के पूर्व सेलिस, लैडला एवं फ्रेजर वैज्ञानिकों द्वारा इन व्याध-पतंगों का विस्तृत अध्ययन किया गया। अतः व्याध-पतंगों के वर्गीकरण के इतिहास में इस काल को सेलिसियन (1840-1900) और लैडला-फ्रेजरियन (1900-1936) युग कहा जाता है। स्वतंत्रता के पश्चात सन् 1970 तक इन व्याध-पतंगों के बारे में कम कार्य हुआ है। इसके बाद बहुत से कीट वैज्ञानिक व्याध-पतंगों के वर्गीकरण पर कार्य कर रहे हैं। इस लेख में व्याध-पतंगों के वर्गीकरण सिद्धान्त पर हुए कार्यों का उल्लेख और उससे सम्बन्धित कुछ प्रमुख संदर्भ, एवं भविष्य में काम करने वाले वैज्ञानिकों को काम सुगम करने के लिए कुछ सुझाव भी दिए गये हैं।

स्वतंत्रता के पूर्व व्याध-पतंगों के वर्गीकरण पर किए गए कार्य की प्रगति :

सबसे पहले तमिल भाषा में भारतीय व्याध-पतंगों का मात्र उल्लेख मिलता है। अंग्रेजी में सर्वप्रथम फैब्रिसियस (1793) ने कुछ भारतीय

व्याध-पतंगों का वर्णन किया है। लिनियस (1758) ने न्यूरोबेसिस चाइनेनसिस का वर्णन किया। बाद में भारत में भी इसका संग्रह करके अध्ययन किया गया। राम्बूर (1942) ने भारत में पाये जाने वाली 20 व्याध-पतंगों की जातियों का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त सेलिस ने भारतीय व्याध-पतंगों के वर्गीकरण पर उल्लेखनीय कार्य किया। इसके बाद लैडला एवं फ्रेजर ने इस विषय पर महत्वपूर्ण कार्य किया। फ्रेजर ने उस समय तक के सभी व्याध-पतंगों के वर्गीकरण सिद्धान्त के सम्पूर्ण अध्ययन को एक साथ फौना आफ ब्रिटिश इण्डिया के तीन खण्डों में प्रकाशित किया। जब कि लैडला ने अपने अध्ययन को अधिकतर भारतीय एग्रीडी, गोम्फिडी एवं सिनेग्रीडी कुलों तक ही सीमित रखा।

स्वतंत्रता के पश्चात व्याध-पतंगों के वर्गीकरण पर किये गये कार्य की प्रगति :

इस काल में इस विषय पर कई कीट वैज्ञानिकों ने विस्तृत कार्य किया है, लेकिन उन लोगों का कार्य स्वतंत्रता के पूर्व किये गये कार्य की बराबरी में नहीं रखा जा सकता है। इस काल के आरम्भ में सिंह एवं बैजल ने अपने अध्ययन को पश्चिमोत्तरीय हिमालय के पहाड़ों पर पाये जाने वाले व्याध-पतंगों तक सीमित रखा और कई नयी जातियों का वर्णन किया है। इनके बाद भटनागर एवं साहनी ने उत्तर प्रदेश के कुमाऊँ पहाड़ियों पर पाये जाने वाले व्याध पतंगों का विस्तृत अध्ययन किया है। 1970 के आसपास से कुमार, छुटानी, लाहिड़ी, मित्रा, प्रसाद, त्यागी और राम आदि भारतीय व्याध-पतंगों के वर्गीकरण सिद्धान्त के विस्तृत अध्ययन में लगे हुए हैं। इन में से कुमार एवं प्रसाद ने मुख्य रूप से अपना अध्ययन का क्षेत्र पश्चिमोत्तरीय हिमालय के व्याध-पतंगों को बनाया है। इन दोनों ने अब तक 162 जातियों के प्रौढ़ एवं 102 जातियों के लार्वा के वर्गीकरण सिद्धान्त, पारिस्थितिकी, बायोटोप्स एवं फिनालाजी आदि का अध्ययन किया है तथा इससे सम्बन्धित कई शोध-पत्रों को प्रकाशित किया है। त्यागी ने अपना अध्ययन देहरादून के व्याध-पतंगों के कोशिकात्मक वर्गीकरण सिद्धान्त में केन्द्रित किया है।

पूर्वोत्तर राज्यों के व्याध-पतंगों का अध्ययन करने वालों में लाहिड़ी, मित्रा और राम प्रमुख हैं। उन्होंने इस क्षेत्र के व्याध-पतंगों का वर्गीकरण सिद्धान्त एवं पारिस्थितिकी का विस्तृत विवरण अपने कई लेखों एवं शोध-पत्रों में प्रकाशित किया है। छुटानी इत्यादि एवं प्रसाद ने राजस्थान आदि कई क्षेत्रों से संग्रह किये गये कुछ व्याध-पतंगों का अध्ययन कर उनकी सूची प्रकाशित की है।

भारतीय कीट वैज्ञानिकों के साथ-साथ बहुत से विदेशी कीट वैज्ञानिकों ने भी भारतीय व्याध-पतंगों का अध्ययन कर उनके सम्बन्ध में कई शोध-पत्र प्रकाशित किए हैं।

भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् और फ्रेजर के फौना आफ ब्रिटिश इण्डिया के प्रकाशन के बाद अब तक कुल 36 नयी जातियों एवं प्रजातियों का पता लगा है। इस प्रकार भारत में पाई जानेवाली व्याध-पतंगों की कुल संख्या बढ़ कर 572 हो गयी है।

भविष्य में अध्ययन करने वालों के लिए कुछ सुझाव :

व्याध पतंग कीड़ों का शरीररचना विज्ञान, शरीरक्रिया विज्ञान, कोशिकात्मक वर्गीकरण विज्ञान और जोव परिस्थितिकी विज्ञान के साथ साथ, यदि वर्गीकरण मिद्धान्त और उनकी जातियों, प्रजातियों, सह-परिवार आदि का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो आशा की जाती है कि इसका अच्छा परिणाम होगा। इसके अतिरिक्त यदि परिस्थिति विज्ञानी एवं अर्थ-प्राणी विज्ञानी दोनों मिलकर व्याध पतंगों के लार्वों और मछलियों के बीच आपसी सम्बन्धों एवं उनके विकास का अध्ययन करें तो कीट विज्ञान में एक नए सोपान का सूत्रपात होगा।

संदर्भ

- एसाहिना, म. 1974. दि डेवलपमेन्ट आफ ओडोनाटोलाजी इन द फार ईस्ट। ओडोनाटोलोजिका, 3(1) 5-12.
- कुमार, अ. 1985. ए रिव्यू आन द बायोइकोलाजी आफ इण्डियन ड्रेगन-फ्लाईज। प्रो. फर्स्ट इण्डियन सिम्प. ओडोनाटोल. : 73-92.
- कुमार अ. और प्रमाद, म. 1981. फोल्ड इकोलोजी जूजीयोग्राफी और टैक्सोनोमी आफ द ओडोनाटा आफ वेस्टर्न हिमालया, इण्डिया। रिक. भार प्राणि सर्वे. अक. पेप., नं. 20 1-118.
- कुमार अ. और खन्ना, वि. 1983. ए रिव्यू आफ द टैक्सोनोमी एण्ड इकोलोजी आफ ओडोनाटा लार्वा फ्रॉम इण्डिया। ओरिएण्ट. इन्स., 17 127-157.
- लाहिड़ी, अ. र 1979. ओडोनाटा (इन्सेक्टा) फ्रॉम डिफरेंट स्टेट्स आफ नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया। ओरिएण्ट. इन्स., 13 119-132.

फ्रेजर एफ. सी. 1933-1936. फौना आफ ब्रिटिश इण्डिया, ओडोनाटा ;
1-3 वोल्यूम्स । टेलर एण्ड फ्रानसिस, लन्डन मे प्रकाशित ।

मित्रा, त्रि. 1975. ए रिव्यू आफ इण्डियन स्पेसिज आफ एग्रीओकनेमिस
मेलिस (इन्सेक्टा: ओडोनाटा जाइगोप्टेरा सिनोग्रीओनिडी) विद ए
नोट आन एग्रीओकनेमिस नैनीतालनेसिस माहनी । डा. बी. एस.
चोहान सम्मान अंक : 403-409.

क्षण भंगुर कीड़े—‘मई मक्खियाँ’

विश्वम्भर दयाल श्रीवास्तव

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता

ग्रीष्म की संध्या में आपने सफेद या मटमैले रंग के कीड़े प्रकाश के आसपास या दुकानों की खिड़कियों और कभी कभी मकान के अन्दर भी मंडराते देखे हों। ये ‘मई मक्खियाँ’ हैं जिन्हें अंग्रेजी में ‘मे-फ्लाई’ कहते हैं। इनका वैज्ञानिक वर्ग इफीमेगप्टेरा है। जैमा नाम से विदित है ये मई मास के आस-पास प्रकट होती हैं, एवं इनका प्रौढ़ जीवन क्षणभंगुर होता है।

मई मक्खियों के जीव अवशेषों से पता चलता है कि इनका प्रादुर्भाव आज से लाखों वर्ष पूर्व ‘परमियन युग’ में हुआ था। शनैः शनैः इनका अनुपात अन्य कीड़ों की अपेक्षा कम होता गया। कार्बोनेटर के अनुसार ‘परमियन युग’ में यह अनुपात 3-5%, ‘मीजोजोइक युग’ में 2.0% तथा ‘टर्शरी युग’ में यह 0.3% हो गया। वर्तमान समय में यह मात्र 0.095% रह गया है। इस समय मई मक्खियों की प्रायः 2200 जातियाँ हैं; भारत में इनकी 94 जातियों के पाये जाने का उल्लेख है (देखें तालिका संख्या-1)।

जीवन चक्र

इन कीड़ों का जीवन दो भागों में विभक्त होता है: एक तो हवा में रहने वाले प्रौढ़ एवं उपप्रौढ़, और द्वितीय इनके अण्डे एवं अपरिपक्व अवस्था का, जो पूर्णतया जल में व्यतीत होता है। द्वितीय भाग में अधिकांश समय व्यतीत होता है।

उप-प्रौढ़ एवं प्रौढ़ अवस्थाएँ

(चित्र 1 एवं 7)

ये अवस्थाएँ हवा में उड़ने वाले कीड़ों के रूप में व्यतीत होती हैं, जो अल्पकालीन होती हैं। इनकी क्षण-भंगुरता कीट जगत में प्रसिद्ध है। इनका

जोवन सम्भोग एवं अण्डे देने तक ही सीमित रहता है। इसीलिए इनमें मुख एवं पाचन अंगों का अभाव होता है। प्रौढ़ एवं उपप्रौढ़ अवस्था में थोड़ा ही अन्तर होता है। उपप्रौढ़ का रंग धूमिल होता है तथा पंखों की शिरायें अस्पष्ट होती हैं। प्रौढ़ चमकीले एवं स्पष्ट पंखों वाले होते हैं।

तालिका संख्या 1—विश्व और भारत में पाये जाने वाली मई-मक्खियों की जातियाँ और गणों की संख्या

वंश	विश्व		भारत	
	गण	जाति	गण	जाति
बीटिडी	17	519	6	35
सीनीडी	6	81	2	7
इफीमेरेडी	8	99	3	14
इफीमेरेलिडी	7	170	2	3
यूथार्डप्लोसिडी	7	12	1	1
हेपटाजेनिडी	28	398	8	14
लेप्टोफ्लेबिडी	62	377	9	10
मेट्रोट्रोपिडी	2	7	—	—
नियोइफीमेरिडी	2	8	—	—
आलिगोन्यूरीडी	9	49	—	—
पेलिनजेनिडी	6	31	1	3
पालीमिटारसिडी	6	70	2	3
पोटामैनथिडी	7	27	1	1
प्रोसोपेसटोमेटिडी	1	11	1	1
साइफ्लोन्यूरीडी	26	163	1	1
ट्राईकोराईथिडी	13	122	—	—
एमीटोरापोडिडी	1	4	—	—
बिटस्सिडी	1	12	—	—
बेहानिनजिडी	3	5	—	—
कुल संख्या 20	213	2139	36	94

प्रौढ़ मक्खियों का आकार 1-5 सेन्टीमीटर तक होता है। बीटीडी एवं सीनीडी वंश की मई-मक्खियाँ साधारणतः 1-2 सेन्टीमीटर की होती हैं। अन्य मई-मक्खियाँ 2-5 सेन्टीमीटर की होती हैं। इनका शरीर तीन भागों में विभक्त होता है—सिर, वक्ष और उदर। सिर में मुख-भाग अविकसित होता है। नर मक्खियों में सिर के ऊपरी भाग में दो उभार होते हैं जिनके ऊपर चक्षु स्थित होते हैं। मादा में चक्षु स्तम्भरहित होते हैं।

वक्ष पर दो जोड़े झिल्लीदार पंख होते हैं जिनमें प्रथम जोड़ा अपेक्षाकृत अधिक लम्बा एवं चौड़ा होता है। क्लिओन जातियों में तो सिर्फ आगे के प्रथम जोड़े पंख ही होते हैं। पंखों में समानान्तर लम्बी शिरायें होती हैं, तथा उनके बीच में ताना-बाना सदृश्य अनेक छोटी आड़ी शिरायें होती हैं। शिराओं का ज्ञान वर्गीकरण में मुख्य आधार माना जाता है। बीटीडी तथा सीनीडी वंश में इन शिराओं का ताना-बाना अपेक्षाकृत कम सघन होता है और आड़ी शिरायें अल्प या नहीं होती हैं। अन्य वंशों में यह ताना-बाना काफी सघन होता है।

वक्ष के नीचे तीन जोड़े पैर होते हैं जिनकी मदद से ये बैठ सकते हैं, परन्तु इनमें चलने की क्षमता प्रायः नहीं के बराबर होती है। इनका उदर दस खण्डों में विभक्त होता है। अन्तिम खण्ड के पार्श्व में दो पतले धागे-सदृश्य पूँछ (एनल सरसाई) होती हैं, जो किसी किसी में तीन भी होती हैं। नर एवं मादा के बाह्य प्रजनन अंग भी इसी भाग में होते हैं।

प्रौढ़ मई-मक्खियाँ प्रजनन हेतु जलीय वातावरण में सामूहिक रूप से उड़ती हैं। इसको प्रजनन उड़ान कहा जाता है। कुछ समय उपरान्त मादा उड़ती हुई, नरों के समूह के पास मंडराती है। मादा के साथ एक नर समूह के बाहर आ जाता है। सम्भोग क्रिया उड़ते हुए हवा में ही सम्पन्न होती है। इस प्रक्रिया में नर मादा के नीचे उड़ते हुए अपने आगे के दो पैरों द्वारा मादा के वक्ष को पकड़ता है, साथ ही उदर के अन्तिम भाग को ऊपर की ओर वक्राकार कर के मादा के उदर के नवें खण्ड को 'जेनाइटल फारसेप' से पकड़ता है। सम्भोग की यह प्रक्रिया व्याध पतंगों (ड्रेगन फ्लाई) में भी होती है तथा इसे 'टेनडम' कहते हैं।

सम्भोग के उपरान्त या तो मादा तुरन्त ही जल की ओर अण्डे देने जाती है या यह कार्य कुछ समय पौधों, झाड़ियों पर विश्रामोपरान्त सम्पन्न करती है। मादा अपने अण्डे पानी की सतह के पास उदर के अन्तिम भाग को जल से स्पर्श कराते हुए देती है, या फिर धीरे-धीरे पानी में उतर कर

अपने अण्डे पेड़ या पत्थर से चिपका देती है। थोड़े समय के पश्चात् नर एवं मादा मक्खियों का जीवन शेष हो जाता है।

अण्डे एवं अपरिपक्व अवस्था

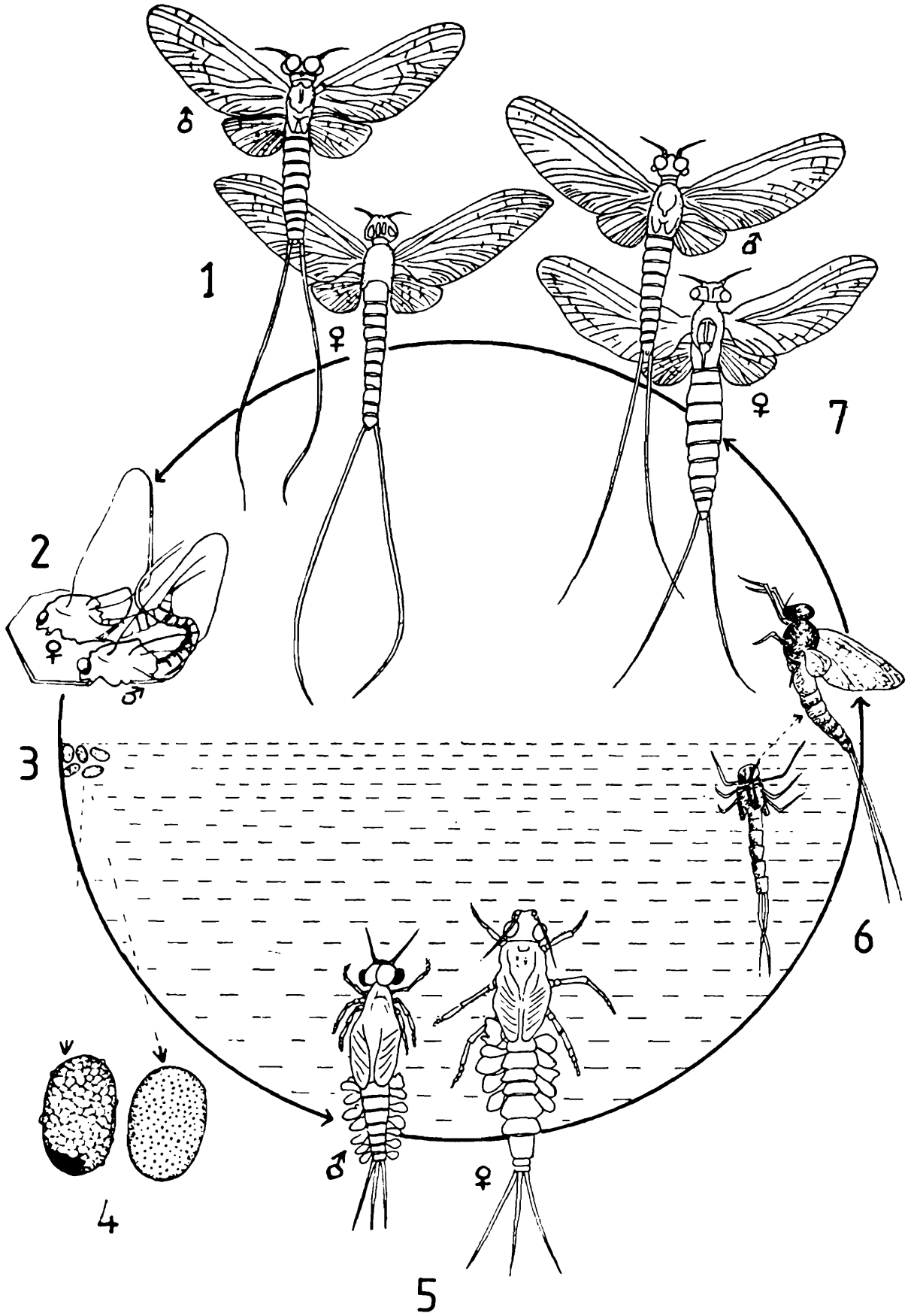
(चित्र 3, 4, 5)

इसके अण्डे बहुत छोटे होते हैं और उनमें अपने को किसी पेड़ या पत्थर से चिपकाये रहने की व्यवस्था होती है। किसी किसी जाति के अण्डे के चारों ओर पारदर्शक, चिपकने वाली जेली सदृश्य पदार्थ का आवरण होता है और कुछ में ये कई पतले धागे के रूप में पाये जाते हैं। इन्हीं के द्वारा अण्डे पानी में किसी आधार पर चिपक जाते हैं।

कालान्तर में इन्हीं अण्डों के अन्दर विकास प्रक्रिया होती रहती है जिसके फलस्वरूप अपरिपक्व अवस्था की सृष्टि होती है। तत्पश्चात् अण्डे के बाह्य आवरण को फाड़कर भीतर से इन कीड़ों की अपरिपक्व अवस्था निकलती है, जो पूर्णरूप से जल में ही व्यतीत होती है। अपरिपक्व अवस्था को 'लार्वा' या 'निम्फ' भी कहते हैं। इनके जीवन चक्र में करीब 6-30 तक बढ़ते हुए लार्वा होते हैं। प्रथम अवस्था के लार्वा की बनावट बाह्य रूप से अन्तिम अवस्था के परिपक्व लार्वा की तरह ही होती है परन्तु अपेक्षाकृत ये बहुत छोटे होते हैं। इनकी आँखें बहुत छोटी होती हैं। वक्ष पर पंख गद्दी तथा उदर पर सांस लेने वाली प्लेट या जल श्वसनिका नहीं प्रकट हुई रहतीं। बढ़ते हुए लार्वा में बाह्य रचना के ये सब गुण क्रमशः प्रकट होते हैं तथा अन्तिम अवस्था के लार्वा तक पहुँचते पहुँचते आन्तरिक रूप से ये अपने को पंख वाले उप-प्रौढ़ के रूप में परिवर्तित करने के लिए प्रस्तुत कर लेते हैं।

लार्वा अपने उप-प्रौढ़ों तथा प्रौढ़ों की अपेक्षा भोजन ग्रहण करने में सक्षम होते हैं और इनके मुखभाग विकसित होते हैं। ये मुख्यतः शाकाहारी होते हैं और पानी में उगने वाली सूक्ष्म वनस्पति (एलगी) एवं अन्य वनस्पतियों के गले हुए तन्तुओं का भोजन करते हैं। भोजन को छीलने, पकड़ने, चबाने आदि के लिए इनके मुख में उचित रचनात्मक व्यवस्था होती है।

मई मक्खियों के जीवन चक्र का अधिकांश भाग अपरिपक्व अवस्था में व्यतीत होता है। इन्हें दो किस्मों में विभक्त किया जा सकता है — स्थिर जलवासी एवं चल जलवासी।



1. प्रौढ़ नर एवं मादा, 2. नर एवं मादा संभोग रत, 3. अण्डे, 4. दो अण्डों का वृहद रूप, 5. अपरिपक्व नर एवं मादा, 6. अपरिपक्व अवस्था से उपप्रौढ़ का निकलना, 7. उप प्रौढ़ नर एवं मादा ।

स्थिर जलवासी लार्वा : ये लार्वा तालाब झील आदि के जल में पाये जाते हैं। कुछ लार्वा पानी के किनारे जलीय वानस्पतिक उपज के बीच में रहते हैं जहाँ ये अपने दुबले पतले शरीर के कारण सुविधापूर्वक रह सकते हैं। इनका रंग हरा या हलका भूरा होता है। उदाहरण है : **क्लीओन**, **साइ-फ्लोन्यूरस**, **सेन्ट्रोपिटेलम** आदि वर्ग की जातियाँ। कुछ अन्य जैसे **सीनिस** वर्ग की जातियों के लार्वा जलाशय की तलहटी में मिट्टी, बालू आदि के बीच में रहते हैं। साधारणतः ये अपने मजबूत पैरों से रेंगकर चलते हैं, परन्तु ये अच्छे तैराक नहीं होते। इनके पेट की दूसरी गिल प्लेट, जो काफी बड़े आकार की होती है, बाकी चार जोड़ों को बालू आदि से सुरक्षित रखती है। **इफीमेरेला** वर्ग की जातियाँ तलहटी में जगह बनाकर भीतर रहती हैं। इनका शरीर पतला हल्के रंग का, तथा त्वचा लोमों से आच्छादित रहती है। तलहटी में घुसने के लिए ये अपने मुख-भाग 'मैनडिबल' तथा प्रथम पैरों से काम लेते हैं।

चल-जलवासी लार्वा मई-मक्खियों की अधिकांश जातियाँ चल-जलवासी होती हैं। ये नदी, झरनों आदि में वास करती हैं। पहाड़ी नदियों में ये 3000-4000 मीटर की ऊँचाई तक पाई जाती हैं। बहते जल में घुली आक्सीजन की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है, तथा तापमान संतुलित रहता है। इस कारण ज्यादातर जातियाँ चल-जल में रहती हैं।

कुछ लार्वा पानी के किनारे पत्थरों या वनस्पति में रहते हैं, इनके शरीर दुबले पतले होते हैं। ये तैर सकते हैं तथा इनके पैर के पंजे नुकीले होते हैं जिससे अपने सहारे पर पकड़ बनाये रखते हैं। इनके उदर की साँस लेने वाली प्लेट छोटी होती है। उदाहरण हैं **बीटिस**, **क्लीओन** आदि वर्ग की जातियाँ।

कुछ वर्गों जैसे **हेपटाजीनिया**, **रियरोजेना**, **एकडायोन्यूरस** आदि की जातियाँ चल-जल में स्थित पत्थरों, चट्टानों या तलहटी पर चिपके रहते हैं। साधारणतः ये लार्वा चौड़े, चिपटे आकार के होते हैं। इनके पैर छोटे पर मोटे एवं मजबूत होते हैं। **सीनिस**, **इफीमेरा** और **इफीमेरेला** वर्ग की कुछ जातियाँ तलहटी के बालू में या जमा होते हुए सड़ी-गली सतह में पाये जाते हैं। उदर पर साँस लेने वाली प्लेट आंशिक रूप से अपने ही किसी बड़ी हुई प्लेट से ढंकी रहती है।

जलीय वातावरण में लार्वा का बहुत महत्व है। भारत में पाई जाने वाली 94 मई-मक्खियों में से केवल 18, यानी लगभग $\frac{1}{5}$, के लार्वा का अध्ययन हुआ है।

लार्वा से उपप्रौढ़ एवं प्रौढ़ में रूपान्तर

जीवनचक्र का अधिकतर समय लार्वा के रूप में व्यतीत होता है। बढ़ते हुए लार्वा के अन्दर ही अन्दर उपप्रौढ़ की सृष्टि होती रहती है। ये परिवर्तन लार्वा के जीवन के अन्तिम चरण में होते हैं। ऐसी अवस्था में ये भोजन ग्रहण करना त्याग देते हैं तथा स्थिर हो जाते हैं। इस समय प्रौढ़ की आँखों, पंखों और पैरों का विकास होता है। प्रजनन भाग, अण्डे, शुक्रकीट तथा प्रजनन सहयोगी अंगों का भी विकास होता है। अब उपप्रौढ़ के निकलने की अवस्था प्रारम्भ होती है। लार्वा तैर कर पानी की ऊपरी सतह तक आता है (चित्र-6)। धड़ के ऊपर की त्वचा बीचों बीच फटती है और आगे सिर तक जाकर दो भागों में विभक्त हो जाती है। इसी रास्ते उपप्रौढ़, लार्वा की खोल से निकलकर बाहर आता है। लार्वा की खोल पानी की सतह पर तैरती रह जाती है।

उपप्रौढ़ की जीवन अवधि अल्पकालीन होती है। कभी-कभी तो कुछ पल में ही ये प्रौढ़ में परिवर्तित हो जाते हैं या फिर 24 घण्टों के भीतर तो यह रूपान्तरण हो ही जाता है। उपप्रौढ़ अपने पंखों को पूरा फला कर अपने सहारे पर स्थिर बैठा रहता है। उसके वक्ष से सिर तक अंग्रेजी की 'टी' अक्षर के प्रकार की त्वचा फटती है और प्रौढ़ इसी रास्ते उपप्रौढ़ के खोल को छोड़ कर बाहर निकल आता है। उपप्रौढ़ की यह खोल सिर, वक्ष, उदर, पैर, पंख एवं पूछ सहित पूरी की पूरी होती है। इस प्रकार का उदाहरण कीट जगत की अन्य जातियों में नहीं पाया जाता।

समापन

प्रकृति के नियमों के अनुसार प्रायः मई-मक्खियों के कुछ शत्रु होते हैं, जो इनका भक्षण करते हैं। यह खाद्य-शृंखला का प्रमुख अंग है। बाढ़, सूखा एवं तीव्र हवा भी इनके मार्ग में बाधक होते हैं। जलीय वातावरण की कड़ी में इन कीड़ों का विशेष महत्व समझा जाता है। ये प्राकृतिक वनस्पतियों को उपयोग करते हुए अन्य माँसाहारी जीवों के भोजन बनते हैं तथा बहुत सी मछलियों के प्राकृतिक भोजन होते हैं। अतः मत्स्य पालन में इनका महत्व है। इनको काँटे में लगाकर मछली पकड़ने के काम में भी लाया जाता है। जलदूषण के जीवन्त सूचक के रूप में भी इनका अन्वेषण उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

भारतीय वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम, 1972 संक्षिप्त विवेचन

नत्थूराम शर्मा

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता

विभिन्नता एवं सौन्दर्य से परिपूर्ण भारतीय वन्य पशु एवं पक्षियों का तीव्र ह्रास एक गंभीर चिंता का विषय बन चुका है। कुछ वन्य पशु-पक्षी इस देश में पहले ही लुप्त हो चुके हैं, और कुछ अन्य समाप्त होने के कगार पर हैं। कई क्षेत्र, जो किसी समय वन्यजीवों से परिपूर्ण थे, अब वन्य जीव रहित हो गये हैं। वन्य पशु एवं पक्षी संरक्षण अधिनियम, 1912, जो वन्यजीवों के संरक्षण के लिए पहले बनाया गया था अब पूर्णरूप से असंगत हो चुका है। इसके अंतर्गत अभयारण्य एवं राष्ट्रीय उद्यानों में वन्यजीवों को जो संरक्षण प्रदान किया गया था, उसमें सुधार की आवश्यकता थी। राज्यों के संरक्षण कानून न केवल घिसे-पिटे थे बल्कि उनमें वन्यजीवों के व्यापार तथा उसके द्वारा अर्थ अर्जन करने वालों को सजा देने के प्रावधान भी अपर्याप्त थे। ये कानून मुख्यतः शिकार को ही नियंत्रित करते थे। अन्य कारणों पर, जो कि भारत के वन्यजीवों की क्षति के लिए उत्तरदायी थे, समुचित ध्यान नहीं दिया गया था।

अतएव राज्यों के वर्तमान कानूनों के प्रावधानों को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार इस निष्कर्ष पर पहुँची कि ये कानून न तो पर्याप्त हैं और न ही संतोषजनक। एक विस्तृत विधान बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई, जो वन्य पशु एवं पक्षियों के संरक्षण तथा उनसे संबंधित सभी विषयों पर प्रकाश डाले।

उक्त विषय पर कानून बनाने का क्षेत्राधिकार संविधान की अनुसूची 7 की राज्यसूची 20 में उल्लिखित है। इसके अनुसार संसद को कानून बनाने का अधिकार तब तक नहीं है, जब तक दो या अधिक राज्यों की

विधायिका, संविधान के अनुच्छेद 252 के तहत एक विधेयक पारित कर, इस विषय पर संसद को कानून बनाने का अधिकार प्रदान नहीं कर दें। अतः इसके लिए आंध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, मणिपुर, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, एवं पश्चिमी बंगाल की विधायिकाओं ने प्रस्ताव अनुमोदित कर दिए।

इस विधेयक में निम्नलिखित प्रावधान हैं

1. राज्य के लिए एक वन्यजीव सलाहकार बोर्ड गठित करने,
2. वन्य पशु एवं पक्षियों का शिकार नियंत्रित करने,
3. किन्हीं क्षेत्रों को वन्यजीव अभयारण्य, राष्ट्रीय उद्यान, आदि घोषित करने,
4. वन्य पशुओं तथा उनसे होने वाले सामान के अधिपत्य, अर्जन तथा हस्तांतरण, एवं उनके व्यापार को नियंत्रित करने, और
5. अधिनियम के प्रावधानों के उल्लंघन करने पर शास्ति देना।

अधिनियम एवं अनुसूचियाँ

उपरोक्त प्रसंगानुसार, सन् 1972 में “वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम, 1972”, जो कि एक केन्द्रीय अधिनियम है, पारित किया गया, जिसका उद्देश्य वन्य पशु, पक्षी, सरीसृप (रेप्टाइल्स), जल-स्थली जीव तथा कीट आदि, तथा उनसे संबंधित मामलों को संरक्षण प्रदान करना है। इस अधिनियम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि भारत में प्रथम बार एक ऐसा कानून बना है जो कि जम्मू एवं कश्मीर राज्य के अतिरिक्त समस्त देश में लागू है। इस अधिनियम में सात अध्याय हैं, जो क्रमशः इस प्रकार वर्गीकृत हैं :-

प्रथम अध्याय :- इस अध्याय में अधिनियम का संक्षिप्त शीर्षक, उसका विस्तार तथा इसके प्रभाव में आने की दिनांक के बारे में बताया गया है। धारा 2 में उन शब्दों की परिभाषाएँ दी गयी हैं जिनका प्रयोग इस अधिनियम की विभिन्न धाराओं में किया गया है, और जिनका आशय इसके संदर्भ में समझना अनिवार्य है।

द्वितीय अध्याय :- इस अध्याय में अधिनियम के अंतर्गत नियुक्त किये जाने वाले कार्मिक के विषय में प्रावधान है। इसके अंतर्गत निदेशक व अन्य

अधिकारियों की नियुक्ति, मुख्य वन्यजीव संरक्षक व अन्य अधिकारियों की नियुक्ति, अधिकारियों द्वारा अपने से निम्नतर अधिकारी को अधिकार प्रदान करना, वन्यजीव परामर्शदात्री बोर्ड गठित करना तथा उसके द्वारा अपनायी जाने वाली प्रक्रिया एवं उसके कर्तव्यों का निर्धारण आता है।

तृतीय अध्याय :- इसमें वन्य-प्राणियों के शिकार से संबंधित प्रावधान हैं : जैसे मारे गये या पकड़े गये प्राणियों का लेखा-जोखा रखना, कतिपय मामलों में वन्य प्राणियों के शिकार की अनुमति, विशेष उद्देश्य हेतु शिकार के लिए स्वीकृतिपत्र प्रदान करना, दिये गए अनुज्ञप्ति पत्र को निरस्त करना, धारा 9 में अनुज्ञप्ति पत्र देने से मना करना व धारा 13 में दिये गये अनुज्ञप्ति पत्र को विलम्बित या निरस्त करने के विरुद्ध अपीलें, तथा किसी वन के कुछ समय तक बन्द रखने की घोषणा आदि के प्रावधान हैं।

चतुर्थ अध्याय :- इसमें राज्य सरकार को किसी क्षेत्र को अभयारण्य घोषित करने तथा घोषित अभयारण्य में किसी व्यक्ति के अधिकारों को निर्धारण करने के बारे में प्रावधान है। अधिकारों के निर्धारण करने के बारे में संबंधित जिलाधीश को प्राधिकृत किया गया है। इसी अध्याय में यह भी प्रावधान है कि राज्य सरकार किसी विशेष या सामान्य आदेश द्वारा वे सारे अधिकार जो जिलाधीश को दिए गए हैं, किसी अन्य अधिकारी को भी दे सकती है। इसी में यह भी बताया गया है कि ऐसे कौन से व्यक्ति हैं जो अभयारण्य में प्रवेश पा सकते हैं? धारा 28 में यह प्रावधान किया गया है कि मुख्य वन संरक्षक, प्रार्थना पत्र दिए जाने पर किसी अभयारण्य में किसी व्यक्ति को उसमें वर्णित उद्देश्यों के लिए प्रवेश करने या निवास करने की अनुमति दे सकता है। इस प्रकार के उद्देश्य हैं :-

- (अ) वन्यजीव तथा उससे संबंधित अन्य विषयों के बारे में अध्ययन तथा अनुसंधान,
- (ब) फोटोग्राफी,
- (स) वैज्ञानिक खोज,
- (द) परिभ्रमण, तथा
- (इ) अभयारण्य में निवास करने वाले किसी व्यक्ति के साथ विधि सम्मत संव्यवहार।

इसी अध्याय में यह भी प्रावधान है कि कोई व्यक्ति अभयारण्य में बिना मुख्य वन्यजीव संरक्षक या प्राधिकृत अधिकारी की अनुमति के किसी प्रकार का हथियार लेकर प्रवेश नहीं कर सकता। राज्य सरकार या केन्द्र सरकार

को किसी क्षेत्र को राष्ट्रीय उद्यान या सुरक्षित आखेट स्थल घोषित करने का अधिकार भी प्रदत्त किया गया है।

पंचम अध्याय :- इस अध्याय के अंतर्गत वन्य प्राणियों को राष्ट्रीय सम्पत्ति घोषित किया गया है तथा उनके या उनसे संबंधित वस्तुओं व ट्रोफीज के व्यापार की रोकथाम के विषय में प्रावधान किए गए हैं।

षष्ठम अध्याय :- इसमें वन्य प्राणियों व अभयारण्यों में किये जाने वाले अपराधों की रोकथाम व अन्वेषण के विषय में प्रावधान किए गये हैं। साथ ही किस अपराध के लिए कितनी सजा दी जा सकती है, यह भी बताया गया है।

सप्तम अध्याय :- यह अध्याय विविध विनियमों तथा अनुसूचियों से अनुवर्तित है, जिसमें निम्नलिखित प्रावधान हैं :-

(अ) कोई भी अधिकारी जिसे इस अधिनियम के अंतर्गत कोई अधिकार प्रदान किए गए हैं, भारतीय दण्ड संहिता में परिभाषित लोक सेवक की परिभाषा में आयेगा।

(ब) किसी भी अधिकारी या अन्य केन्द्र या राज्य सरकार के कर्मचारी के विरुद्ध ऐसे किसी कार्य के लिए जो उसने इस अधिनियम के तहत सद्-विश्वास में किया है, कोई वाद, अभियोग या विधिक कार्यवाही नहीं चलेगी।

(स) केन्द्रीय या राज्य सरकार अनुसूचियों की प्रविष्टियों में परिवर्तन कर सकती हैं।

(द) केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार नियम बना सकती हैं, आदि।

इसी अध्याय के अंत में 1 से 5 अनुसूचियाँ दी गई हैं, जो समय समय पर संशोधित होती रही हैं। अनुसूची 1 में दुर्लभ व संकटग्रस्त वन्य प्राणियों की सूची दी गई है, जो जीवित या मृत या उनका कोई भाग पूर्णरूपेण पूरे भारत में संरक्षित है। अनुसूची 2 में विशेष शिकार की जातियों की सूची दी गई है, जो अधिक संरक्षण के पात्र हैं और जिनका लाइसेंस विशेष परिस्थितियों में ही दिया जा सकता है। अनुसूची 3 और 4 में विशेष व छोटे शिकार के वन्य प्राणियों का समावेश है ; तथा अनुसूची 5 में हानिकारक पशुपक्षियों का।

इस प्रकार हमारी सरकार वन्य प्राणियों के संरक्षण की ओर पर्याप्त ध्यान दे रही है तथा भविष्य में भी इस हेतु तर्कसंगत कानून बनाती रहेगी यही हमारी आशा और अभिलाषा है।

अण्डमान तथा निकोबार द्वीप समूहों के वन्यजीव

गालि चन्द्रशेखर राव एवं राधेश्याम शर्मा*

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, अण्डमान तथा निकोबार क्षेत्रीय केन्द्र, पोर्ट ब्लेयर

भूमिका

अण्डमान तथा निकोबार द्वीपसमूहों का स्थान उनकी भौगोलिक एवं प्राकृतिक स्थिति के कारण विशिष्ट है। यह प्रदेश उष्णकटिबंधीय घने, वर्षा वनों से आच्छादित है। इन द्वीपों के आसपास अगण्य छोटी-बड़ी खाड़ियां तथा झीलें हैं जिनमें मूंगे की चट्टानें पायी जाती हैं। इनका समुद्रीतट शैलीय, बालुई तथा पंकिल है जिसमें मैंग्रोव (कच्छ वनस्पति) भी हैं। यह स्थिति विभिन्न प्रकार के समुद्री जीव-जंतुओं को आश्रय देती है, जो विशेषकर उष्णकटिबंधीय महासागरीय द्वीपों में पाये जाते हैं। इस लेख में इन द्वीपों में वन्यजीवों की वर्तमान स्थिति एवं उनके संरक्षण हेतु किए गए उपायों का वर्णन किया गया है।

स्थलाकृति

अण्डमान तथा निकोबार में 500 से ज्यादा छोटे-बड़े द्वीपों का समूह है, जो बंगाल की खाड़ी में उत्तर दक्षिण दिशा में अक्षांश 6° से 14° उत्तर, और देशांश 91° से 94° पूर्व के मध्य में स्थित है (देखें मानचित्र संख्या 1-2, जिनमें संरक्षित वन क्षेत्र बिन्दुओं से अंकित किये गये हैं)। यह द्वीप समूह भारतीय महाद्वीप से करीब 1250 कि.मी. की दूरी पर है, और अण्डमान सागर में बर्मा के निचले हिस्से और इंडोनेशिया के सुमात्रा के मध्य में करीब 1120 कि.मी. तक फैला हुआ है। उत्तर में, अण्डमान द्वीप समूह में करीब 400 से ज्यादा, और दक्षिण के निकोबार समूह में 100 से कम द्वीपों का समावेश है। अण्डमान तथा निकोबार 10° समुद्री स्रोत द्वारा एक

* वर्तमान पता : भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, पश्चिमी प्रादेशिक शाखा, पुणे (महाराष्ट्र)।

दूसरे से पृथक् हैं। इन द्वीपों की उत्पत्ति ज्वालामुखी पर्वतों से हुई है, अतः वे समुद्री पर्वत शृंखलाएँ हैं। द्वीपों का भूमिप्रदेश ऊँचा-नीचा, पर्वती एवं पहाड़ी है, जिन के बीच घाटियाँ हैं। इस द्वीप समूह का कुल क्षेत्रफल 8293 वर्ग कि. मी. है, तथा समुद्रतट करीब 2000 कि. मी. लम्बा है, जो कि मैंग्रोव (कच्छ वनस्पति) के वनों तथा मूंगे की चट्टानों (कोरल रीफ) से भरपूर है (चित्र 1)।

भारी वर्षा के कारण इन द्वीपों का क्षेत्र घने, सदाहरित वनों से आच्छादित है। ग्रेट निकोबार के अतिरिक्त इन द्वीपों में कहीं भी बड़ी नदियाँ नहीं हैं। यहाँ की मिट्टी रेत के समान है और भूजल संसाधन अल्प और सीमित हैं।

वन्यजीव

इन द्वीपों की वनसंपदा प्रचुर और विविध है, और भारतीय मुख्य भूमि पर सामान्यतः पायी नहीं जाती। स्थानिक तौर पर निम्नप्रकार के जीवजन्तु पाये जाते हैं: छोटे कृमि, केंचुआ, जोंक, क्रस्टेसिया वर्ग के आयसोपोड, केंकड़े, विभिन्न कीट, शतपाद, सहस्रपाद, बिच्छू, मकड़े, शंख, घोंघा, मेंढक, मगर, छिपकली, सर्प, कछुआ, विभिन्न प्रकार के पक्षी, छछूंदर, चूहे, चमगादड़, सुअर, बंदर आदि। कीट वर्ग में ज्यादातर तितलियाँ, गुबरैल, व्याध-पतंगे, टिड्डियाँ, मच्छर, मक्खियाँ, मधुमक्खियाँ, चीटियाँ और दीमक इत्यादि मिलते हैं। मीठे जल के स्थान सीमित होने के कारण इन द्वीपों से केवल 12 मेंढक की जातियों का वर्णन किया गया है। रेंगनेवाले प्राणियों की 80 जातियाँ पायी जाती हैं। विभिन्न पक्षियों की लगभग 250 जातियाँ यहाँ पायी जाती हैं। स्तनधारी जातियों की संख्या 50 के करीब है। बड़े मांसाहारी पशुओं का अभाव है, एकमात्र जंगली सूअर और हिरण ही पाया जाता है।

इसके विपरीत इन द्वीपों के आसपास के समुद्रीतट और मेनग्रोव्ह, मूंगे की चट्टानों और वेलांचलों जैसे प्राकृतिक वासस्थानों में पाये जाने वाले समुद्री जीव-जंतुओं की संख्या अगणित है। इनमें तरह तरह के जंतु जैसे स्पन्ज, समुद्री अनीमोन, समुद्री पिच्छक, समुद्री प्रवाल (कोरल), कृमि, नेमेरटाइन्स, गेस्ट्रोटाइक्स, पीनटवर्मस, पॉलीकीटस्, बारनैकल्स, संधीपाद, केंकड़े, झिंगे, शंख, स्कवीड, सीपी, समुद्री लीली, तारामीन, समुद्री-आर्चिन, समुद्री-खीरा आदि पाये जाते हैं। कशेरुकी प्राणियों में कई प्रकार की मछलियाँ, कछुए, मगर, समुद्रीगाय और डालफीन्स मिलते हैं।

जीव-भूगोल

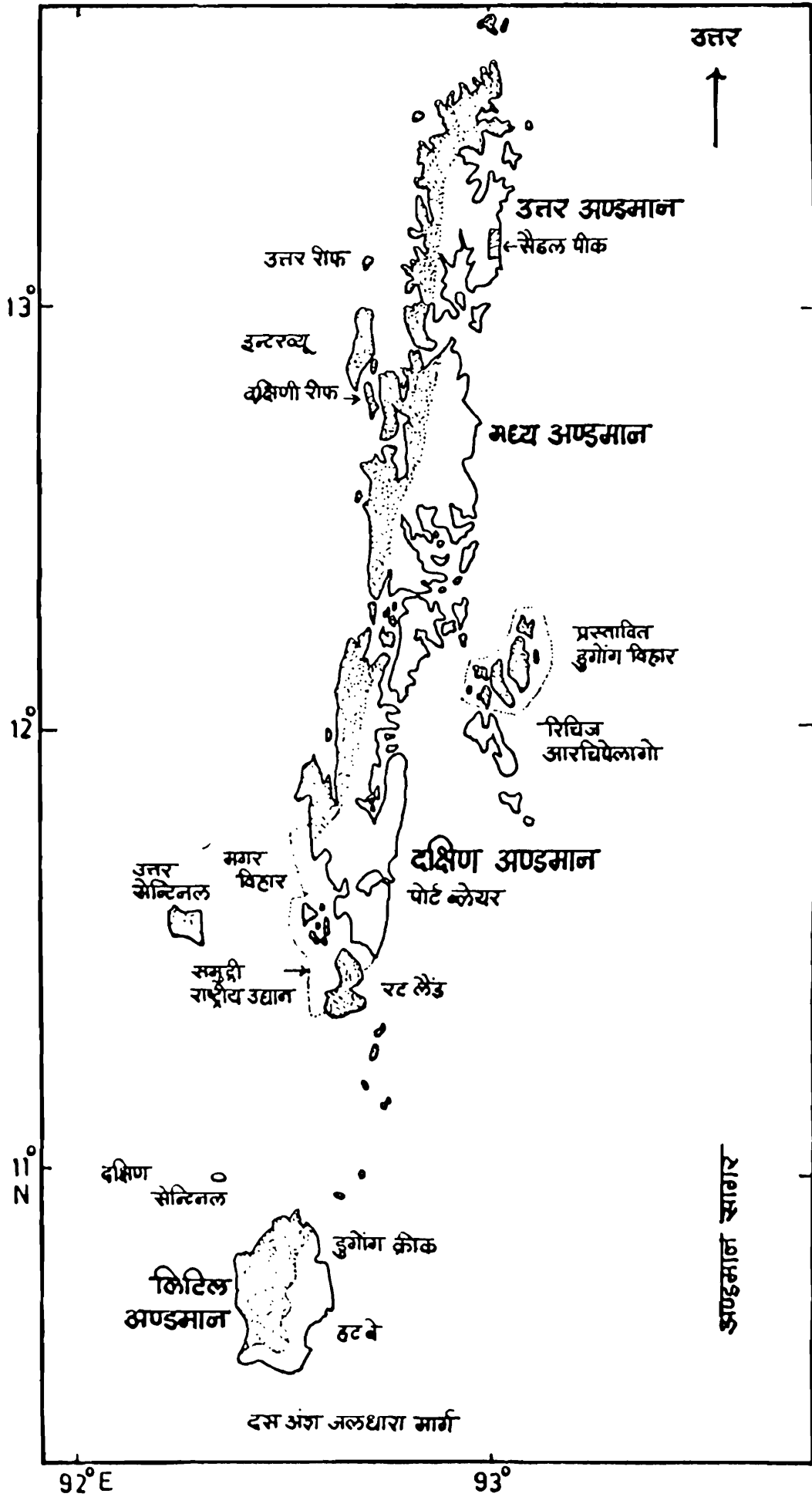
इन द्वीपों में प्राणियों की वितरण प्रणाली रोचक चित्र प्रस्तुत करती है। कुछ प्राणी अण्डमान द्वीप समूह के कुछ ही हिस्सों में प्रतिबंधित हैं, तो कुछ निकोबार के, तथा कुछ दोनों द्वीप समूहों में मिलते हैं। उत्तर अण्डमान का प्राणिजगत उत्तरी भारत-चीन के प्राणिजगत से मिलता जुलता है, और दक्षिणी निकोबार का प्राणिजगत दक्षिणी मलाया और इंडोनेशिया के प्राणि-जातियों से मिलता है।

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग ने, हालही में इन द्वीपों के प्राणिजात का यथाक्रम अध्ययन करने हेतु एक समयबद्ध कार्यक्रम की योजना बनायी है, जिसमें प्राणिजगत के विभिन्न वर्ग अन्वेषित किए जाएंगे। इस अभ्यास के दौरान यह भी सुनिश्चित किया जाएगा कि जो विशेषक्षेत्री जाति/प्रजातियां हैं, तथा जिनके विलुप्त होने का भय है उनके संरक्षण के लिए उचित कार्यक्रमों का आयोजन हो। साथ ही इस क्षेत्र के घोषित/प्रस्तावित राष्ट्रीय उद्यानों एवं पशुविहारों का सर्वेक्षण करके यहां के वन्यजीवों की संपदा एवं संसाधनों की तालिका बनाने का भी प्रस्ताव है। इन द्वीपों पर बढ़ती आबादी तथा विभिन्न गतिविधियों से उत्पन्न समस्याएं और उससे वन्यजीवों पर हो रहे विपरीत परिणामों का समय समय पर यथोचित मूल्यमापन करके उनके नियंत्रण पर नज़र रखी जाएगी।

इन द्वीपों के वन्यजीवों पर अब तक जो भी अध्ययन हुआ विशेषकर उनके वर्गीकरण, पारिस्थितिकी एवं जीव-भूगोल से ही सीमित रहा किन्तु इन जीव जन्तुओं के जैविकी, जीवनवृत्त तथा जनसंख्यागति का उचित अध्ययन होना आवश्यक है जो कृषि, वनविकास, औद्योगिक व्यवसाय, नाशकजीव नियंत्रण, औषधि, पशुचिकित्सा, मत्स्य-उद्योग तथा जन स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त हो सके। साथ ही मानवजाति वनस्पति विज्ञान तथा लोक प्राणि की दृष्टि से अध्ययन किए जाएं ताकि यह जानकारी प्राप्त हो कि यहां की स्थानिक जनजाति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किन किन वनस्पति तथा प्राणियों का उपयोग करते हैं।

वन्यजीवों की वर्तमान स्थिति

हालांकि प्रारम्भ में इन द्वीपों का 86 प्रतिशत क्षेत्र वनों से आच्छादित था, लेकिन निरंतर हो रही आबादी में वृद्धि और वनोन्मूलन के कारण वन्यजीवों की संपदा तेजी से कम हो रही है। कई जातियों का वितरण



संकुचित हो गया है, जैसे अकशेरुकी प्राणियों में कोरल (प्रवाल), शूलचर्म (इकायनोडर्म), मृदुकवची (मोलस्क) तथा कशेरुकी प्राणियों में सरीसृप, पक्षी तथा स्तनधारी प्राणी आदि। इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वन्यजीवों की वर्तमान स्थिति अवश्य ही उतनी अच्छी नहीं है जैसी पहले थी।

इन द्वीपों का करीब 1000 वर्ग कि.मी. समुद्रीतट मैंग्रोव (चित्र 2) के घने इलाके से घिरा हुआ है, जो अपने आप में एक अनोखी पारिस्थितिकी है और विभिन्न वर्गों के जीव जन्तुओं को आश्रय देती है। इन प्राणियों में विशेषतः पोलीकिट, बारनेकल, झींगे, केंकड़े, शंख, सीप, मछलियां तथा रेंगनेवाले जंतुओं आदि का समावेश है। पिछले कुछ वर्षों से इन मैंग्रोव की अंधाधुंध कटाई ईंधन, चारा तथा अन्य घरेलू आवश्यकताओं के लिए की जा रही है, जिससे इसमें वास करनेवाले तथा पेड़ों पर निर्भर रहने वाले जीव जन्तुओं के समुदायों के लिए खतरा पैदा हो गया है। वर्तमान स्थिति में इस क्षेत्र के कुछ ही द्वीप ऐसे बचे हैं जो निर्जन और अति दूर हैं, जहां आसानी से नहीं पहुंचा जा सकता, इसलिये वहां के वन्यजीवों की अवस्था अन्य जगहों से श्रेष्ठतर है।

इन द्वीपों को अंडमान सागर में विस्तीर्ण और एकनिष्ठ आर्थिक क्षेत्र प्राप्त हैं, जहां मत्स्य उद्योग के विकास की संभावनाएं अत्यधिक हैं। ऐसा अनुमान है कि, इस क्षेत्र से प्रतिवर्ष 2,00,000 टन मछलियों की उपज प्राप्त हो सकती है। वेलोपवर्ती (पेलैजिक) मछलियों में (खानेलायक) मुख्यतः परचेस, केरानजीड्स, सुरमई, अँनकोबीज, सारडीन, बोई, हेरिंग, मुल्लन, शार्क, रे, बांगडा एवं ट्युना आदि का समावेश होता है। तलमज्जी मछलियों में शार्क, रे, कॅरेनजीड, लियोग्नेथीड, युपेनीथाइड, सियानीड्स, नेमेप्टेरीड, सुरमई तथा परचेस जातियां मिलती हैं। लेकिन इन द्वीपों में आधुनिक तरीके से मछली पकड़ने की पर्याप्त सुविधाएं जैसे, यांत्रिक नौकाएं, प्रशिक्षित मछुआरे, शीतसंग्रहागार आदि के अभाव के कारण अंडमान सागर में अपतट मात्स्यिकी के लिए उपलब्ध संपदा का कम उपयोग हो रहा है। साथ ही महाद्वीपीय शेल्फ का सीधा ढाल, एवं चट्टानी स्थलाकृति भी उपतट (इनशोर) जल मत्स्यन में अनेक बाधाएं खड़ी करती है, जिससे यहां का उपतट जल भी मात्स्यिकी-उद्योग की दृष्टि से लगभग अच्छा ही है। फिलहाल लम्बी डोर की पद्धति से वेलोपवर्ती क्षेत्र से मछलियां प्राप्त की जाती हैं।

कुछ विशिष्ट प्राणी

इन द्वीपों में पाये जाने वाले कुछ असामान्य, विशेष क्षेत्री, स्थानिक एवं संरक्षित प्राणियों का संक्षिप्त ब्योरा नीचे दिया गया है :

अकशेरुकी प्राणी

(सन्दर्भ के लिये टीकादर और दास 1985, राव और देवराय 1985, टीकादर आदि 1986, राव 1987 तथा राव और खान 1987 देखें)

अण्डमान हाइड्रा यह एक सूक्ष्म और विलक्षण जन्तु है जो इन द्वीपों के किनारे रेत में स्वच्छंद घूमता नजर आता है। इसकी शरीर रचना सिलिन्डराकार होती है, शरीर पक्ष्माभमय (सिलीयेटेड) होता है। इसी पर धागे की तरह स्पर्शक होते हैं, जो रेत के दानों के सूक्ष्म अंतरों में रहने के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं। इस जंतु का मुँह शरीर के पिछले हिस्से में होता है। यह अपरदभोजी है और अति सूक्ष्म जीव जंतुओं को खाता है। यह जाति अण्डमान में विशेषक्षेत्री है और रिचिस आरचीपेलेगो के रेतीवाले किनारों पर पायी जाती है।

अण्डमान शतपाद (कानखजुरा) यह इन द्वीप समूह के असामान्य जंतुओं में से एक है, तथा लम्बाई में 10 सें.मी. तक बढ़ते हैं। यह रात्रिचर जंतु है जो दिन में पत्थरों, दरारों एवं सड़े हुए पेड़-पौधों के पत्तों या खालों के भीतर तथा अन्य अंधेरी जगहों में छुपा रहता है। यह अतिलोलुप, मांसाहारी जंतु है जो कीड़े मकोड़े खाता है। इसकी डंक से बेहद दर्द होता है और मृजल आती है।

महादस्यु केकड़ा (जायन्ट रौबर क्रॅब) (चित्र 3) : यह एक बड़े आकार का केकड़ा है जो लम्बाई में 1 फीट और चौड़ाई में 9" तक हो सकता है। इसका शरीर कड़ी प्लेटों से आच्छादित रहता है। यह वायव (एरियल) जीवन स्थिति के अनुकूल अपने शरीर को गीला रखता है। यह छोटे छोटे कृमि, क्रस्टेशियाई तथा मृदुकवची (मोलस्क) जंतुओं को खाकर अपना निर्वाह करता है। नारियल के पेड़ों पर चढ़कर नारियल के फल तोड़कर भी खाता है। यह जाति अब अण्डमान समूह के दक्षिण सेन्टीनेल और निकोबार में ग्रेट निकोबार द्वीपों में ही प्रतिबंधित हो गयी है और विलुप्त होने के मार्ग पर है।

बृहत् आफ्रिकन घोंघा (चित्र 4) यह घोंघा इन द्वीपों में जापानी लोगों

ने पुनःस्थापित किया था जो अब सामान्य हो गया है। मानसून मौसम में मई से दिसम्बर माह तक यह बहुत सक्रिय रहता है। यह रात्रिचर प्राणी है और दिन में ज्यादातर नमी और छाया वाली जगहों पर पत्थरों, ढीली मिट्टी, लकड़ी के लट्ठों तथा पेड़ों के पत्तों आदि के नीचे छुपा रहता है। यह पेड़ों के तनों पर चढ़ के वहां भी आश्रय लेता है। इस घोंघे की शाकाहारी आदत है और यह खेती बाड़ी की महत्वपूर्ण फसलों के लिए गंभीर हानिकारक है। इसके नियंत्रण के कई कारगर उपाय किए गए किन्तु वे प्रभावहीन रहे। इस का भौगोलिक वितरण सारे विश्व में है। इन द्वीपों में इस जाति की जनसंख्या घनत्व को देखते हुए यदि इसे व्यावसायिक स्वरूप मिल जाए तो इसके निर्यात द्वारा देश को विदेशी मुद्रा की प्राप्ति होती रहेगी।

कशेरुकी प्राणी

उभयचर

(संदर्भ के लिये टीकादर और दास 1985 देखें)

अण्डमान बिलकारी मेंढक यह अण्डमान द्वीप समूह में मिलनेवाला विशेष क्षेत्री एक छोटा सा बिलकारी मेंढक है। इसका नोकीला सिर और फैली हुई अंगुलियों के नोक इसकी बिलकारी जीवन स्थिति के लिए बहुत उपयुक्त है। यह पेड़ों के तने, सड़नेवाले पत्तों तथा ऊपरी मिट्टी आदि में आवास करनेवाला रात्रिचर प्राणी है। मानसून के मौसम में आमतौर पर पाया जाता है। इसके भोजन में कृमि एवं कीड़ों का समावेश होता है।

सरीसृप

(संदर्भ के लिये विश्वास और सान्याल 1980 तथा विटाकर 1986 देखें)

अण्डमान की हरी छिपकली : यह विदेशी छिपकली है और इसका केवल अण्डमान द्वीपों में पाया जाना एक पहली है। आकार में छोटी तथा इसके शरीर का रंग हरा और उसपर नारंगी रंग की छटाएं होती हैं। आदतों से अतिमन्द और मांसाहारी होती है। यह सामान्यतः पेड़ पौधों के बीच या कभी कभी घरों में भी पायी जाती है और इन द्वीपों में बहुत सामान्य है।

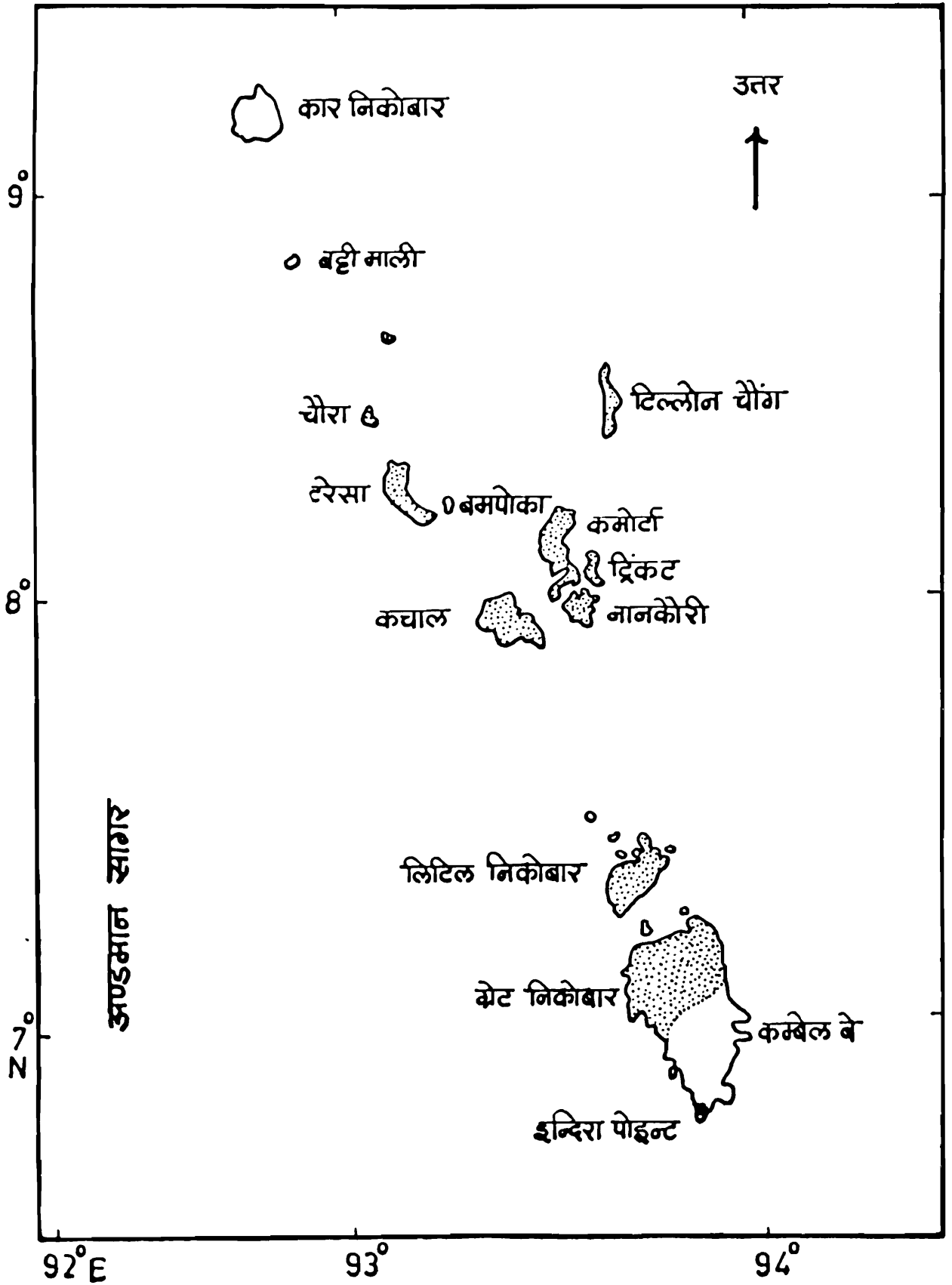
अण्डमान गार्डन लिजार्ड : यह भी अण्डमान द्वीपों की विशेष क्षेत्री छिपकली है। इसका शरीर पार्श्वभाग में दबा होता है, पूँछ लम्बी, सिलेण्डराकार जो पीछे की ओर नुकीली हो जाती है। यह वृक्षवासी, दिवाचर तथा

मांसाहारी है। कृमि, कीड़े तथा मेंढक आदि खाती है। सामान्यतः जंगल में पेड़ों तथा पौधों पर बड़ी चंचलता से चढ़ती है।

जल गौसाँप (वाटर मॉनिटर) यह भारत का सबसे बड़ा मॉनिटर छिपकली है जो लम्बाई में 2.5 मीटर तक का होता है। सामान्यतः इन द्वीपों के जंगलों में आद्रता एवं नमीवाले जगहों पर रहता है। इसका अधिकांश समय पानी में ही बीतता है, यह एक अच्छा तैराक है। यह आसानी से पेड़ों पर भी चढ़ता है। यह मांसाहारी प्राणी है, मछली तथा पक्षियों के अंडे खाना अधिक पसन्द करता है। यह कछुए और मगर के अण्डे भी खाता है जो क्रमशः रेतीले तटों में तथा मैंग्रोव में पाये जाते हैं। कभी कभी अपने खाद्य की खोज में यह समुद्रतटीय जल में भी जाता है। इन दिनों इस प्राणी की संख्या बहुत कम हो गयी है, क्योंकि इसके मांस तथा मूल्यवान चमड़ी के लिए यह शिकार का लक्ष्य बन गया है। अब यह जाति विलुप्त हो रहे प्राणियों की सूची में आ गयी है।

नागराज (चित्र 5) यह विषधर सर्पों में सबसे बड़ा प्राणी है जो लम्बाई में 5 से 6 मीटर तक होता है। नर मादा से लम्बा होता है। यह सर्प अण्डमान के घने जंगलों में पाया जाता है। दिन में यह सक्रिय होता है और बहुत तेजी से घूमता है। यह अपना फन जमीन से 1 से 2 मीटर तक ऊंचा उठाता है और स्वभाव से आक्रामक होता है। यह मुख्यतः मेंढक, लिजर्ड तथा अन्य सर्पों को खाता है। अण्डनिक्षेपण के लिए पत्तों तथा छोटी छोटी टहनियों में घोंसला बनाता है। मादा अंडों का रक्षण करती है। यह जाति अब अति दुर्लभ है और इसके संरक्षण की आवश्यकता है।

जालिकारूपी अजगर यह भारतवर्ष के जीवित सर्प जातियों में सबसे विशाल एवं भारी (वजनदार) प्राणी है। इसकी लम्बाई 10 मीटर तक हो सकती है, सिर त्रिकोनाकार और चपटा होता है, शरीर का रंग भूरा, उसमें पीले रंग के धब्बे होते हैं, और पूँछ काफी छोटी होती है। यह केवल ग्रेट निकोबार द्वीप के घने सदाहरित वनों में पाया जाता है। स्वभाव से सुस्त और अंशजलीय होता है, और पानी के नजदीक रहना पसंद करता है पर कभी कभी पेड़ों पर चढ़कर शाखाओं में छुपा रहता है। अपने अण्डों को घेरकर उनका रक्षण करता है। इसका खाद्य रेंगनेवाले जन्तु, पक्षी तथा छोटे स्तनपायी प्राणी हैं। इस जाति की उसके मांस तथा चमड़ी के लिए शिकार अधिक मात्रा में होने के कारण अब संख्या कम हो गयी है, और इन द्वीपों में दुर्लभ हो गयी है।



लवणजल मगर (चित्र 6) यह वर्तमान मगर जातियों में सबसे बड़ी और विशाल मगर जाति है, जिसकी लम्बाई 7 से 8 मीटर हो सकती है। इन द्वीपों के कम गहराई वाले तटीय जल, ज्वारीय संकरी खाड़ी, मैंग्रोव तथा ज्वारनदमुखों में यह पाया जाता है। यह स्वभाव से मन्द और केवल क्रस्टेशियाई, मृदुकवची प्राणी, मछलियां, रेंगनेवाले जन्तु तथा पक्षी का भक्षण करता है। इन मगरों की हत्या उनकी कीमती चमड़ी के लिए बड़ी संख्या में की जाती रही है। इनके अण्डों को वॉटर मॉनिटर, जंगली सुअर तथा गरुड़ आदि पक्षी हानि पहुंचाते हैं। इस जाति का वितरण अब सीमित हो गया है जिससे इनका संरक्षण आवश्यक है।

हरित समुद्री कछुआ : यह कठिन कवचवाले कछुओं में सबसे विशाल जाति है, जो लम्बाई में 1 मीटर और वजन में 1000 कि. ग्रा. हो सकता है। यह इन द्वीपों के उपतटीय जल में पाया जाता है। यह मुख्यतः समुद्री शैवाल और घासपात खाता है, लेकिन कभी कभी क्रस्टेशियाई तथा मोलस्क जीवों को भी खाता पाया गया है। यहां के लोग इन कछुओं को खाने के लिए मारते रहे हैं या उनके अण्डे संग्रहित करते रहे हैं। जिन तटों पर यह कछुए अपने अण्डे निक्षेपण करते हैं वहां बालू के संग्रह की इजाजत दिये जाने के कारण इन कछुओं ने अपने परम्परागत अण्ड-निक्षेपण स्थानों को त्याग दिया है। इससे इस जाति की संख्या में भारी गिरावट आई है और इस जाति के विलुप्त हो जाने का भय है।

पक्षी

(सन्दर्भ के लिये अब्दुल अली 1976 तथा टीकादर 1984 देखें)

नारकोंडम धनेश यह मध्यम आकार का काले रंग और सफेद पूंछवाला, नारकोंडम द्वीप का अप्रवासी एवं विशेष क्षेत्री पक्षी है। यह कोलाहल करने वाला और आदमी से निर्भय रहने वाला पक्षी है। वे 4 से 6 के झुण्ड में ऊंचे पेड़ों पर बैठते हैं। अंजीर आदि के फल खाते हैं। इस पक्षी की इस द्वीप पर वर्तमान संख्या काफी अच्छी है, किन्तु इसी छोटे से द्वीप में प्रतिबंधित वितरण को ध्यान में रखते हुए निःसन्देह यह एक दुर्लभ पक्षी है और इसका योग्य संरक्षण आवश्यक है।

अण्डमान टोल (हंसक) यह अण्डमान ज्वालामुखीय द्वीपों का अप्रवासी एवं विशेष क्षेत्री बतख है। यह ज्वारीय, संकरी खाड़ी, मीठे पानी के कुण्ड तथा मैंग्रोव में ही रहता है। यह बहुत अच्छा तैराक है और रात्रि के समय

अपना भक्ष्य खोजता है। वैसे तो सर्वाहारी पक्षी है, लेकिन ज्यादातर क्रस्टेशियाई, मोलस्क वंश के जीव जन्तु, मछली तथा पानी के भीतर डूबी हुई वनस्पति तथा पेड़ पौधों के बीज आदि खाता है। पहले यह बतख अण्डमान द्वीप समूह में हर जगह पायी जाती थी, लेकिन अब इसके अत्यधिक शिकार तथा इनके आवासों के क्षय के कारण इनकी संख्या बहुत कम हो गई है।

अबाबील : इसका शरीर नीला-काला तथा उदर सफेद रंग का होता है। पंख लम्बे और कमान की भांति फैले होते हैं। नर एवं मादा समान होते हैं। यह पक्षी झुण्ड बनाकर रहते हैं और अपने खाद्य की खोज में निकलते हैं, जिसमें मुख्यतः कृमि और कीड़ों का समावेश होता है। यह पक्षी अपने अण्डनिक्षेपण के लिए असामान्य किस्म के घोंसले गुफाओं, चट्टानों तथा ऊँचे वृक्षों के तनों पर बनाता है। यह घोंसले लार से निकले एक विशिष्ट सफेद जेली के समान द्रव्य से बनते हैं, जो धूप या वायु के प्रभाव से ठोस बन जाता है। यह घोंसले खाने योग्य होते हैं तथा इनका प्रयोग स्वादिष्ट जूस बनाने में किया जाता है, इसलिये ये करीब 1000 रुपये प्रति कि. ग्राम के हिसाब से बेचे जाते हैं। इन घोंसलों के असंयमित संग्रह से इन पक्षियों की उत्पत्ति पर बहुत बुरा असर पड़ा है और अब यह दुर्लभ होते जा रहे हैं। हालांकि अबाबील पक्षी सारे भारत-प्रशांत महासागरीय द्वीपों में पाये जाते हैं, किन्तु यह प्रजाति केवल इन्हीं द्वीपों में पाई जाती है।

कोहासा (व्हाइट बेलीड सी ईगल) : यह एक विशाल, शक्तिशाली एवं शिकारी पक्षी है। इसका शरीर सफेद और पंख भूरे रंग के होते हैं। हालांकि यह पक्षी अपना घोंसला इन द्वीपों के घने जंगलों में बनाता है लेकिन दिन का ज्यादातर समय वह समुद्री किनारों पर अपने भक्ष्य की खोज में बिताता है। वह केंकड़े, मोलस्क, मछली तथा समुद्री सर्पों का शिकार करता है। इस पक्षी की संख्या अब कम हो रही है।

हरियल (पाइड इम्पेरियल पिजियन) यह पक्षी इन द्वीपों के अति सुन्दर, अप्रवासी पक्षियों में से एक है। इसका शरीर सफेद मलाई के समान तथा पंख एवं पूंछ का पीछे की ओर का हिस्सा काले रंग का होता है। आँखें गहरे काले रंग की होती हैं। नर तथा मादा समान होते हैं। यह मुख्यतः अंजीर तथा कठिन छिल्के वाले फल खाता है। यह जाति अण्डमान द्वीप समूहों में तथा निकोबार के पूर्व में स्थित अन्य द्वीपों में भी पायी जाती है। इसके आवासों के असंयमित नाश के कारण इसका रक्षण करना आवश्यक है।

निकोबार मेगापोड यह एक आकर्षक पक्षी है जो मुर्गों के समान होता है और केवल निकोबार द्वीपों के समुद्री किनारों के आसपास के घने जंगलों में ही पाया जाता है। इसका रंग हल्का भूरा, और धड़ तथा पैर की अंगुलियां लम्बी होती हैं। नर एवं मादा समान होते हैं। यह आदतों से सर्वाहारी एवं रात्रिचर है। सामान्यतः कीड़े, कृमि, घोंघे, बीज, कंद आदि खाता है। मादा अपने अण्डे मिट्टी तथा वनस्पति द्रव्यों से बनाए गए विशाल टीलों में डालकर उन्हें उष्मायीत (इनक्यूबेट) करती हैं। यह पक्षी अच्छी तरह से उड़ नहीं सकते तथा तेज गति से दौड़ भी नहीं पाते, इसलिए आसानी से पकड़े तथा मारे जा सकते हैं। इनके आवासों की हानि तथा इनके अत्यधिक शिकार के कारण यह पक्षी इन द्वीपों में दुर्लभ होते जा रहे हैं।

निकोबार कबूतर यह इन द्वीपों का एक अत्यंत सुंदर पक्षी है। इसका शरीर हरे रंग का चमकदार होता है। यह इन द्वीपों के संरक्षित क्षेत्रों के सदाहरित वनों का निवासी है। यह पक्षी शक्तिशाली उड़ान भरनेवाले होते हैं। समूहों में रहकर अपने खाद्य की खोज करते हैं, तथा जमीन पर गिरे रसदार वन्य फल तथा बीज खाते हैं। इनके आवासों की क्षति तथा अनियंत्रित शिकार के कारण वस्तुतः यह पक्षी अण्डमान द्वीपों से पूर्ण रूप से नष्ट हो गया है, और निकोबार में भी इसकी स्थिति अनिश्चित एवं संकटमय है। इसकी यह प्रजाति केवल निकोबार में पायी जाती है।

स्तनपायी जन्तु

(मन्दर्भ के लिये चतुर्वेदी 1980, टीकादर 1983 तथा विटाकर 1986 देखें)

निकोबार ट्री श्यू (पेड़ों की छछंदर) : यह एक विशेषक्षेत्री कीटाहारी स्तनपायी प्राणी है जो इन द्वीपों के समुद्रतटीय मैंग्रोव से लेकर घने जंगलों तक में पाया जाता है। यह आकार में छोटा तथा लगभग काले रंग का प्राणी है। आदतों से यह वृक्षवासी और धावी है और दो-दो के जोड़े बनाकर रहते हैं। इसकी आवाज ऊंची होती है, जो जंगल में काफी दूरी से भी सुनाई पड़ती है। कीड़े खाता है पर कभी कभी यह छोटे छिपकली तथा मेंढक भी ग्रहण करता है। यह जाति अब दुर्लभ हो गयी है।

अण्डमान चमगादड़ यह एक विशेषक्षेत्री अश्वनाल जन्तु है और बहुत छोटा होता है। इसका वितरण अण्डमान द्वीपों के घने जंगल में सीमित है। यह वृक्षवासी तथा रात्रिचर है तथा हर वक्त अंधेरी जगहों में रहता है। यह ज्यादातर कीड़े ही खाता है, किन्तु कभी कभी छोटे-छोटे कृमि, छिपकली, पक्षी तथा चूहे भी खाता है।

निकोबार चमगादड़ : यह कार निकोबार द्वीप का विशेष क्षेत्री है। यह नारियल पेड़ों के उपवनों तथा जंगलों में पाया जाता है। आकार में काफी बड़ा हो सकता है। आदतों में यह वृक्षवासी, सर्वाहारी तथा रात्रिचर प्राणी है जो फल और छोटे जीवजन्तु खाता है। इन द्वीपों में इसके प्राकृतिक शत्रु कम होने के बावजूद भी यह जाति अब दुर्लभ हो गई है। संभवतः स्थानिक लोग खाने के लिए इसका शिकार करते हैं।

अण्डमान का जंगली सुअर (चित्र 7) इन द्वीपों के विशिष्टक्षेत्री स्तनपायी प्राणियों में यह कभी कभी नजर आनेवाला सबसे बड़ा प्राणी है। इस का वितरण अण्डमान द्वीपों के घने जंगलों में सीमित है। ग्रेट निकोबार द्वीप में पायी जानेवाली सुअर जाति कुछ शारीरिक विभिन्नताओं के कारण इससे भिन्न मानी जाती है। इसका थूथन (स्नाउट) दीर्घ और पूंछ छोटी होती है। यह सर्वहारी प्राणी है, जो वनस्पति तथा उनकी जड़ें, कंद, घोंघे, कृमि आदि खाता है। द्वीपों के आदिम जनजाति का यह एक महत्वपूर्ण खाद्य है। वनों की निरंतर कटौती और खाद्य के लिए इस की अनियंत्रित हत्या से इस जाति की स्थिति नष्टप्राय हो गई है।

केंकड़े खानेवाला बंदर (ऋब ईटिंग मेकाक) (चित्र 8) : यही एक द्वीपवासी बंदर जाति है जो केवल निकोबार द्वीपों के घने जंगलों में पायी जाती है। इसका शरीर काले रंग का और पूंछ बहुत लम्बी होती है जो पेड़ों की शाखाओं पर लटकने में सहायक होती है। यह प्राणी दिन में बहुत क्रियाशील रहता है। सामान्यतः शाकाहारी एवं फलाहारी है, किन्तु जब खाद्य की कमी होती है तब यह समुद्री तट के केंकड़े खाकर निर्वाह करता है, इसी आदत के कारण इसे केंकड़े खानेवाला बंदर नाम प्राप्त हुआ है। यह झुंड बनाकर रहता है। इन द्वीपों में बसी जनजातियों की यह धारणा है कि यह जाति उनकी फसलों तथा सब्जी के बगीचों को नुकसान पहुंचाती है, इसलिए वे इनकी हत्या करते रहे हैं। इन बंदरों के प्राकृतिक आवासों में लगातार हो रही कमी तथा इनकी हत्या के कारण निकोबार क्षेत्र में इनकी जनसंख्या कम होकर गंभीर हो गई है।

हस्तिभकर (डुयूगोंग) : इस जन्तु को लोकप्रिय भाषा में सी काऊ (समुद्रीगाय) कहते हैं जो भारत-प्रशांत महासागर के उष्णकटिबंधीय तटीय क्षेत्रों में पाया जाता है। यह एक हलके नीले-धूसर रंग का समुद्री स्तनपायी प्राणी है, जो लम्बाई में 2-3 मीटर होता है। यह विशेषकर शाकाहारी प्राणी है जो केवल कम गहराई वाले तटीय जलों में ही पाया जाता है जहां समुद्री घास

तथा शैवाल आदि प्रचुर मात्रा में मिलती है। मादा एक समय में एक ही बछड़े को जन्म देती है। इसका शिकार विशेषकर इसके मांस, उससे मिलने-वाली चर्बी, तेल तथा बहुमूल्य चमड़ी को पाने के लिए निरंतर किया जाता रहा है। इन द्वीपों की कई जगहों से यह जाति पूर्णतः अदृश्य हो गयी है।

संरक्षण

पृथ्वी पर आवास करनेवाली छोटी-बड़ी कई वनस्पति एवं प्राणियों की जातियाँ ऐसी हैं जिनका ज्ञान मानव को नहीं है या कम है। पशु पक्षियों की कई ऐसी जातियाँ जो दूसरे मरे हुए प्राणियों को खाती हैं, प्राकृतिक वातावरण को स्वच्छ एवं स्वस्थ रखती हैं। कई वनस्पति और प्राणी पारस्परिक आश्रय एवं खाद्य के लिए एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। अनुचित दखलअंदाजी के कारण इस जीवन चक्र से किसी एक भी जाति के हट जाने से या खत्म हो जाने से संपूर्ण आहार चक्र में परिवर्तन होकर पारिस्थितिक संतुलन बिगड़ जाता है। इससे काफी अप्रिय परिणाम सामने आते हैं। इसलिए प्रकृति के प्रदान किए इन वन्य संसाधनों की सुरक्षा करना हमारे हित की बात है।

एक बार किसी जाति का संपूर्ण नाश होने पर उसका पुर्ननिर्माण असंभव है। इनके आवासों की हो रही निरंतर हानि को रोकना हमारा कर्तव्य है जिससे विलुप्त हो रही जातियों को बचाया जा सके। मनुष्यों की बढ़ती आबादी और उसकी तथाकथित विकासशील गति विधियों के कारण देश के बहुतांश जंगल कट चुके हैं और बहुत सीमित हो गए हैं, वहाँ अब थोड़ी बहुत संख्या में वन्यजीव मिलते हैं। अब ऐसे बहुत कम क्षेत्र हैं जहाँ उष्णकटिबंधीय वर्षा वन पाये जाते हैं। अण्डमान तथा निकोबार द्वीप समूह भारतवर्ष में ऐसा ही एक क्षेत्र है। यहाँ वनस्पति एवं प्राणियों की कई जातियों के लुप्त होने का भय है। इसलिए उनके संरक्षण के प्रभावशील उपाय करना अनिवार्य हो गया है।

पिछले कुछ दशकों से इन द्वीपों के भूमि तथा सागरीय वन्य संसाधनों में तेजी से हो रही गिरावट को ध्यान में रखते हुए तथा वन्यजीव (संरक्षण) अधिनियम 1972 के अनुसार अण्डमान तथा निकोबार प्रशासन ने वन्यजीवों को संरक्षण के कुछ उपाय किए हैं जैसे, वन्यजीवों की हत्या निषेध से संबंधित कानूनों को लागू किया गया, छः राष्ट्रीय उद्यानों की स्थापना की गई और करीब 10 प्रतिशत क्षेत्रफल में फैले छोटे-छोटे 96 द्वीपों में वन्य पशुविहारों का निर्माण किया गया। कुछ महत्वपूर्ण सुरक्षित क्षेत्रों का संक्षिप्त विवरण आगे दिया गया है :-

समुद्री राष्ट्रीय उद्यान यह अण्डमान सागर में मुख्य दक्षिणी अण्डमान द्वीप के पश्चिमी तट पर स्थित है। इसका कुल क्षेत्रफल 280 वर्ग कि.मी. है, जिसमें लेबरीथ द्वीप समूह के 15 द्वीपों का समावेश होता है (मानचित्र 1)। इस राष्ट्रीय उद्यान की स्थापना इस क्षेत्र में पाये जानी वाली सभी समुद्री कछुवा जातियों तथा मगर आदि का संरक्षण करने के लिए की गई है। इस उद्यान क्षेत्र के रेतीले तट कछुवों के नीड़ के लिए बहुत उपयुक्त हैं।

लोहाबॅरेक पशुविहार यह पशुविहार मुख्य दक्षिणी अण्डमान द्वीप के पश्चिमी तटपर लोहाबॅरेक क्रीक के आसपास करीब 106 वर्ग कि.मी. में स्थित है (मानचित्र सं. 1)। यहाँ के मैंग्रोव के घने जंगल और ज्वारनदमुखी संकरी खाड़ियां इस क्षेत्र को मगर के संरक्षण के लिए उपयुक्त हैं। इन मगरों के लिए आवश्यक खाद्य यहां समुद्री जीव जंतुओं के रूप में उपलब्ध है। खाद्य एवं कृषि संगठन के एक विशेषज्ञ डा. एच. आर. बस्टर्ड के सुझाव पर 1979 में पोर्टब्लेअर में 'मगर प्रजनन एवं पालनपोषण केन्द्र' शुरू किया गया। तब से इस केन्द्र में पोषित मगर के बच्चे इस पशुविहार में छोड़े जाते रहे हैं, जिससे इनकी जनसंख्या में वृद्धि हो सके।

दक्षिणी सेंटोनील द्वीप : यह एक छोटा सा केवल 1.6 वर्ग कि.मी. क्षेत्रफल का द्वीप है, जो लिटल अण्डमान से 10 कि.मी. की दूरी पर उत्तर-पश्चिम दिशा में स्थित है। इस द्वीप को पशुविहार घोषित करने का प्रमुख कारण महादस्युकर्कट (जायन्ट रॉबर क्रेब) और हरित समुद्री कछुवे की तेजी से घटती हुई जनसंख्या को रोकना तथा उन्हें सुरक्षित रखना है। पारिस्थितिक दृष्टि से यह द्वीप इन दोनों जातियों के संरक्षण के लिए अत्यंत उपयुक्त है, वे यहां अच्छी तरह पनप भी रही हैं। पोर्टब्लेअर स्थित हेडौ प्राणिसंग्रहालय में महादस्युकर्कट के प्रजनन के प्रयास किए जा रहे हैं ताकि उनकी जन संख्या को बढ़ाया जा सके।

उत्तरी रीफ द्वीप यह द्वीप उत्तरी इंटरव्यू द्वीप के उत्तर दिशा में स्थित है। इसका कुल क्षेत्र केवल 3.5 वर्ग कि.मी. है। इसे पशुविहार घोषित करने का प्रमुख उद्देश्य यहां के जल पक्षी, प्रवाल भिती और हॉक्सबील कछुवे के नीड़ स्थलों की सुरक्षा करना है। जबसे इस पशुविहार की स्थापना हुई है, इन प्राणियों की जनसंख्या में काफी सुधार हुआ है। विशेषतः इस क्षेत्र में अण्डमान टील की संख्या में बढ़त हुई है जबकि इन द्वीपों के अन्य क्षेत्रों में इसकी संख्या पर बुरा असर हुआ है।

सॅडलपीक राष्ट्रीय उद्यान : यह मुख्य उत्तरी अण्डमान द्वीप के पूर्वी तट पर

स्थित है, जिसका वन क्षेत्र लगभग 10 वर्ग कि. मी. है (मानचित्र सं. 1)। अण्डमान में पायी जानेवाली महत्वपूर्ण एवं विशेषक्षेत्री विभिन्न वनस्पति तथा प्राणिजातियों को संरक्षण प्रदान करने हेतु सैंडलपीक नामक पर्वतीय क्षेत्र को राष्ट्रीय उद्यान घोषित किया गया है। कई क्षतिग्रस्त सरीसृप, पक्षी एवं स्तनपायी प्राणी जातियां जो इन द्वीपों के अन्य क्षेत्रों में दुर्लभ हैं, वे इस उद्यान में दिखायी देती हैं। उत्तर अण्डमान में इस उद्यान सहित आसपास के क्षेत्र को प्राकृतिक जीवमंडल रिजर्व बनाने का मामला विचाराधीन है।

नारकोंडम द्वीप यह एक छोटासा दूरवर्ती विलगीत ज्वालामुखीय द्वीप है जो उत्तरी अण्डमान से करीब 50 कि. मी. की दूरीपर पूर्वी दिशा में अक्षांश $13^{\circ}28'$ और देशांश $94^{\circ}16'$ के मध्य में स्थित है। इसका कुल क्षेत्रफल 2 वर्ग कि. मी. से भी कम होगा। केवल इस द्वीप में ही पाये जानेवाला विशिष्ट क्षेत्री अप्रवासी पक्षी 'नारकोंडम धनेश' के संरक्षण के लिए इस द्वीप को पशुविहार घोषित किया गया। यह द्वीप इस पक्षी के आरक्षण के लिए आवश्यक सारी पारिस्थितिक स्थितियां प्रदान करता है।

बैरन द्वीप अण्डमान सागर में रिचिस आरचीपिलेगो के पूर्व दिशा में करीब 40 कि. मी. की दूरीपर अक्षांश $12^{\circ}16'$ और देशांश $93^{\circ}22'$ के मध्य में स्थित यह एक दूरवर्ती द्वीप है। यह द्वीप वनस्पति, पेड़, पौधों की अनेक प्रकार की जातियों को सहारा देता है। इस द्वीप में पुनः स्थापित जंगली बकरे (वाईल्ड गोट) की जाति इस सीमित क्षेत्र में रहने की आदी हो गयी है और उनकी जनसंख्या भी काफी मात्रा में बढ़ गयी है। इस द्वीप में शुद्ध (मीठा) जल उपलब्ध न होने के कारण यह जाति समुद्री लवणजल पीकर अपना निर्वाह करने की अभ्यस्त हो गयी है।

ड्युगोंग पशुविहार इस समय हस्तिमकर (सी काऊ) केवल रिचिस आरची-पिलेगो के आसपास ही दिखायी देते हैं। यह टापू इस पशु के उपनिवेशन के लिए अत्यंत उपयुक्त साबित हुआ है क्योंकि यहां के कम गहराईवाले तटीय जल में समुद्री शैवाल तथा घास (जो इस प्राणी का खाद्य है) अत्यधिक मात्रा में पाये जाते हैं। समुद्री कछुवे, ज्वारनदमुखी मगर, और सामान्य डॉलफीन आदि प्राणी जो विलुप्त हो रहे प्राणियों की सूची में शामिल किए गए हैं वे भी इसी क्षेत्र की संकरी खाड़ी तथा तटीय जलों में पाये जाते हैं। यहां के मैंग्रोव के घने जंगल, पंकिल, बालुई तथा शैलीय तट इन समुद्री प्राणिजात के संरक्षण के लिए बहुत योग्य हैं। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए करीब 380 वर्ग कि. मी. के इस क्षेत्र को, जिसमें अनेक अनिवासीय

द्वीप भी शामिल है, 'ड्यूगोंग पशुविहार' घोषित करने का प्रस्ताव अण्डमान तथा निकोबार प्रशासन के विचाराधीन है।

इन द्वीपों के अतिरिक्त अन्य द्वीप जैसे उत्तर अण्डमान, लिटल अण्डमान, लिटल निकोबार और ग्रेट निकोबार आदि में वन्यजीव संरक्षण क्षेत्र बनाने के प्रस्ताव पर भी प्रशासन विचार कर रहा है। घटती हुई वन्यसंपदा को सुरक्षित रखने के लिये संरक्षण उपायों को कारगर ढंग से लागू करने में सभी का सक्रिय सहयोग मिलना अति आवश्यक है।

पुनः स्थापित प्राणी

इन द्वीपों में बड़े विशालकाय स्तनपायी प्राणियों की अनुपस्थिति तथा अनेक विदेशी प्राणियों की उपस्थिति ने प्रारंभ के अनुसंधानकर्तओं को भारतीय मुख्य भूमि के विविध वन्यजीव इन द्वीपों में प्रायोगिक आधार पर पुनः स्थापित करने के लिए प्रलोभित किया। उन्होंने स्तनपायी प्राणियों में चूहे, विविध हरिण (स्पॉटड डीयर, हॉग डीयर, बार्किंग डीयर), वाइल्ड गोट, घरेलू बिल्ली, सिवेट, कुत्ता, तेंदुवा, रीसस बंदर, पीग टेल्ड बंदर, घोड़ा, भैंस, हाथी आदि तथा घरेलू चिड़िया, कौआ, मैना, तीतर, मोर वगैरह पक्षियों को इन द्वीपों में पुनः स्थापित किया। इसके अतिरिक्त कई छोटे छोटे पशुपक्षी भी यहां छोड़े गये।

इतमें से कुछ जातियां मनुष्य का नियंत्रण खो बैठीं और उनकी जनसंख्या में असीमित वृद्धि होकर खतरनाक साबित हुई। इनका असर स्थानिक प्राणिजात पर हुआ और नियंत्रण मुश्किल हो गया। उदाहरणार्थ एक छोटे से इंटरव्यू द्वीप (मानचित्र सं. 1) पर पुनः स्थापित हाथी की जनसंख्या इतनी बढ़ गयी है कि यह द्वीप उनके घूमने फिरने के लिए अपर्याप्त हो गया है। अतः समुद्र के निम्न ज्वार भाटा के दौरान वे आसपास के द्वीपों में बसे लोगों की बस्तियों में बारबार घुसकर हांनि पहुंचाते हैं। इसी प्रकार हरिणों की जनसंख्या में बहुत वृद्धि हो गई और वे खेती बाड़ी की फसलों को नुकसान पहुंचाने लगे, नतीजतन उन्हें पीड़क घोषित करना पड़ा।

सिवेट बिल्ली ने जमीनपर रहनेवाले पक्षियों को भारी क्षति पहुंचायी। तेंदुओं के उत्तरजीविता के लिए इन द्वीपों की स्थिति अयोग्य सिद्ध हुई जिससे वे नष्ट हो गए। पुनः स्थापित कुछ पक्षियों ने यहां के स्थानिक पक्षियों को हटाना शुरू किया जिससे उनके उत्तरजीविता की समस्या गंभीर हो गयी। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान जापानियों ने इन द्वीपों में हुई खाद्य की कमी को

पूरा करने के लिए वृहत अफ्रिकन घोंघा को पुनः स्थापित किया था, जो अब कृपि, पेड़, पौधों तथा बगीचों का सबसे गंभीर नाशक बन गया है। यह सब घटनाएं सूचित करती हैं कि इन द्वीपों में या और कहीं भी बिना उचित अध्ययन के विदेशी प्राणियों के पुनः स्थापन को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए।

निष्कर्ष

वन्यजीव (संरक्षण) अधिनियम 1972 को लागू करने तथा सभी प्राकृतिक पारितंत्रों के संरक्षण के प्रति प्रशासन की अभिरुचि के बावजूद भी, निःसंदेह यहां के विभिन्न प्राकृतिक आवास और उन आवासों में पाये जाने-वाले जीवित संसाधन सतत एवं तेजी से कम हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में वन्यजीवों के रूप में बची हुई अमूल्य विरासत तथा इन द्वीपों के जैविक अनोखेपन को बचाने के लिए यदि प्रभावशाली उपाय समय पर नहीं किए गए तो इस हानि को सहना अत्यंत कठिन हो जाएगा। इसीलिए भविष्य की सारी विकास योजनाओं का प्रकृति एवं वन्यजीव संरक्षण एक अंग होना चाहिए, और इसके कार्यान्वयन के लिए उचित ध्यान देने की जरूरत है।

आभार ज्ञापन

लेखकगण निदेशक, भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता और डा० गु. म. यज्ञदानी, वैज्ञानिक एस. डी. प्रभारी अधिकारी, भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, पूना, के अनुमति एवं सुविधाओं के लिए आभारी हैं।

संदर्भ

- अब्दुलअली, एच. 1976. दी बर्ड्स ऑफ ग्रेट एन्ड कार निकोबार विथ सम नोट्स ऑन वाईल्डलाईफ कॉन्जरव्हेशन इन दी आयलैंड्स। ज. बाम्बे. नेचु. हिस्ट. सोसा., 75 : 744-772.
- विश्वास, एस. और सान्याल, डी. पी. 1980. ए रिपोर्ट ऑन दी रेप्टेलियन फौना ऑफ अण्डमान एण्ड निकोबार आयलैंड्स। रेकॉ. जूला. सर्वे. इण्डिया, 77 : 255-292.
- चतुर्वेदी, वाय. 1980. मॅमल्स ऑफ दी अण्डमानस् एण्ड निकोबार्स, देअर जूजीओग्राफी एण्ड फौनल अॅफनिटी। रेकॉ. जूला. सर्वे. इण्डिया, 77 : 127-139.

राव, जी. चन्द्रशेखर 1987. इफेक्ट्स ऑफ एक्सप्लॉयटेशन एन्ड पोल्यूशन ऑन लिटोरल फौना इन बे आयलैंड्स। प्रोसी. सिम्पो. मॅनेजमेंट ऑफ कोस्टल इकोसिस्टमस् एन्ड ओसीयानिक रिसोर्सेज आफ दी अण्डमान्स : 28-39.

राव, जी. चन्द्रशेखर और देवराय, एम. के. 1985. दी फौना ऑफ दी बे आयलैंड्स। ज. अण्डमान सांय. अॅसोसि., 1 : 1-17.

राव, जी. चन्द्रशेखर और खान, आय. एच. 1987. प्रेजेन्ट स्टेटस आफ मेरीन लाइफ इन बे आयलैंड्स। जूलॉजीयाना, 5 : 41-54.

टीकादार, बी. के. 1983. थ्रेटन्ड अॅनीमल्स ऑफ इण्डिया। भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता से प्रकाशित।

टीकादार, बी. के. 1984. बर्ड्स ऑफ अण्डमान एन्ड निकोबार आयलैंड्स। भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता से प्रकाशित।

टीकादार, बी. के., डॅनीअल ए. और सुब्बाराव, एन. बी. 1986. सी शोर अॅनीमल्स ऑफ अण्डमान एन्ड निकोबार आयलैंड्स। भारतीय प्राणि सर्वेक्षण, कलकत्ता से प्रकाशित।

टीकादार, बी. के. और दास, ए. के. 1985. ग्लिम्पसेज आफ एनीमल लाइफ आफ अण्डमान एण्ड निकोबार आइलैंड्स। भारतीय प्राणि सर्वेक्षण कलकत्ता से प्रकाशित।

विटाकर, आर. 1986. एनडेन्जरड अण्डमान्स। पर्यावरण विभाग, भारत सरकार, दिल्ली से प्रकाशित।



चित्र 1. कोरल रीफ



चित्र 2. मैंग्रोव पारितंत्र



चित्र 3. महा दस्यु कर्कट (केंकड़ा)



चित्र 4. बृहत अफ्रीकन घोंघा



चित्र 5. नागराज



चित्र 6. लवणजल मगर



चित्र 7. अण्डमान का जंगली सूअर



चित्र 8. केंकड़े खाने वाला बन्दर

संक्षिप्त रचनाएँ (1) :

उजड़ते उपवन और प्रभावित पक्षी

आदिकाल से ही प्रकृति जीव-जन्तुओं का आश्रय रही है, और मानव ने सदैव प्रकृति की पूजा आराधना की है। आज के युग में भी वन-उपवनों का पशु-पक्षियों से अन्योनाश्रय संबंध है। उजड़ते उपवन पक्षियों को अस्मिता के लिये आज एक विराट प्रश्न चिन्ह प्रस्तुत कर रहे हैं।

हमारी भौतिक सभ्यता ने प्रकृति पर जो प्रहार किया है उसके फलस्वरूप जो नया निर्माण कार्य हुआ है, उसे हम विकास कहने लगे हैं। पर विकास के नाम पर जो प्रकृति की विकृति हुई है, उसे अब सभी स्वीकारने लगे हैं। मनुष्य की लिप्सा से उजड़ता उपवन तो मूक है, पर प्रकृति का अदृश्य संतुलन बिगड़कर प्रतिशोध ले रहा है। आजके प्रलयकारी बाढ़, भयावह सूखा, भीषण भूस्खलन आदि इनके प्रतिकूल प्रभाव हैं। समय रहते यदि हम सचेत नहीं हुए तो भावी पीढ़ी हमें कभी क्षमा नहीं करेगी।

एक पौराणिक कहानी है—जब प्रचेतगण किसी समय में वनों एवं उप-वनों को नष्ट करने लगे तो स्वयं ब्रह्मा विचलित हो कर आये और कहा—
“वसुन्धरा की रक्षा के लिये वनस्पति अति आवश्यक है :

वृक्षादि वर्षति पर्जन्यः,

पर्जन्यादन्नं संभवः,

अन्नाद भवन्ति भूतानी ।

अर्थात् वृक्ष से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न, और अन्न ही जीवन है।”

वस्तुतः वन एवं उपवन पर्यावरण के अभिन्न अंग हैं जो कोटि कोटि जीवों को संरक्षण प्रदान करते हैं। प्राचीन भारतीय जीवन में मानव जीवन का वन उपवनों से अभिन्न संबंध था। इसकी पुष्टि प्राचीन ग्रन्थ कालीदास के ‘अभिज्ञान शाकुंतलम्’ के इस कथन से होती है— जब शकुंतला अपने पति के घर जाने लगती है तो कण्व ऋषि वृक्ष लताओं से कहते हैं “पानी से

सींचे बिना जो स्वयं खाना नहीं खाती थी, वही शकुंतला आज अपने पति के घर जा रही है, इसे आशीष दे कर विदा करो।” आज भी पशु एवं पक्षियों का वन एवं उपवनों से अटूट रिश्ता है। उजड़ते उपवन असंख्य पक्षियों के आवास का अतिक्रमण है। अतः अपने नष्ट नीड़ों पर, उजड़ते उपवनों से अवश्य ही पक्षी प्रभावित होंगे।

वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर पक्षियों का इतिहास जीवों के विकास के इतिहास का सबसे नया अध्याय है। पर हमारे सांस्कृतिक इतिहास में इनकी कहानी अतीत के अंधकार में भी आलोकित है। हमारे ऋषि मुनियों ने इन्हें देवी देवताओं के वाहनों के रूप में स्वीकार कर उचित स्थान दिया है। पक्षियों के प्राकृतिक सौंदर्य का एक अलग आकर्षण है। यह आकर्षण इतना तीव्र रहा कि जंगल से पकड़कर इन्हें हमने पिंजड़ों में पाल लिया। यह विहंग सम्मोहण अकारण ही नहीं है। यह प्रकृति की सुन्दरतम कृति ही नहीं बल्कि आर्थिक रूप से लाभकारी एवं वैज्ञानिक रूप से रोचक भी है। सारा विश्व विनाश के अंधकार में विलीन हो जाय यदि पक्षी कीड़े-मकोड़ों की द्रुत गति से बढ़ती हुई अपार जनसंख्या का भक्षण कर निरंतर इन्हें नियंत्रित न रखें, अन्यथा पौधों को इनके आक्रमण से बचाना असंभव हो जाय। इनकी इस महत्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए इनका संरक्षण एक सुलगता हुआ सवाल बन गया है। एक ओर तो शिकार कर या पकड़कर इन्हें नष्ट किया जा रहा है तो दूसरी ओर इनके नीड़ों को उजाड़कर इन्हें बेघर किया जा रहा है।

हमारे भारत में करीब दो हजार से ऊपर जाति एवं उपजाति के पक्षी पाये जाते हैं। इसमें से लगभग तीन सौ किस्में प्रवासी पक्षियों की हैं। इस तरह विराट विभिन्नताओं वाले पक्षियों के आवास की वजह से भारत का विश्व में दूसरा स्थान आता है। परन्तु पिछली कुछ शताब्दियों से इनकी संख्या में निरंतर कमी होती जा रही है, और कुछ पक्षी जाति तो अब हमारे चिड़ियाघरों की शोभा मात्र रह गयी हैं।

मयूर (पावो क्रीसटेटस लीनियस), धनेस (अंथ्राकोसिरोस मालावारिकस ग्मेलिन), काली कलीज (लोफ्यूरा ल्यूकोमेलाना लाथम), गुलसारस या कुरुंच (ग्रस निगरीकोलिस प्रजवाल्स्की), देवहंस (कायरीना स्कूटुलाटा मूलर) आदि अनेक ऐसे पक्षी हैं जो कुछ दशक पूर्व हमारे उपवनों में स्वच्छन्द विचरण करते थे, आज दुर्लभ हो गये हैं। मानव लिप्सा में मिटते पक्षियों की एक लम्बी सूची है। पहाड़ी बटेर (ओफरीसीया सुपरसिलियोसा ग्रे), मीर शिकार या जोर्डन कोर्सर (करसोरियस बाइटोरवाटस ब्लिथ), गुलाब सिर (रोडोनेसा

केरियोफाइलेसिया लाथम) आदि तो कुछ ऐसे पक्षी हैं जिन्हें इस शताब्दी में शायद एक बार ही देखा गया है। इन पक्षियों की कहानियों का अन्त करतलध्वनि से नहीं वग्न करुण रुदन में हो रहा है। और सबसे दुख की बात तो ये है कि वीहड़ वनों के कुछ अल्पसंख्यक बेनाम पक्षियों की कहानी अनकही रह गयी।

इन विलुप्त होती प्रजातियों को संरक्षण देने के उद्देश्य से अब देश में अनेक विहंगारण्य या पक्षी विहार बनाये गये हैं। राजस्थान का भरतपुर पक्षी विहार विश्व के श्रेष्ठतम पक्षी विहारों में से है। यहाँ हर साल लाखों प्रवासी पक्षी जाड़ा बिताने हजारों किलोमीटर दूर से आते हैं। प्रवासी पक्षियों का भारत में एक और शरणस्थल है—पाइन्ट कैलीमर। यह तामिलनाडु के अन्तिम छोर पर है। इसके अलावे गुजरात का नलसरोवर, हरियाणा का मुलतानपुर एवं उड़ीसा की चिल्का लेक हमारे देश के कुछ अन्य पक्षी विहार हैं। एक विश्व का न्यूनतम क्षेत्रफल वाला पक्षी विहार भी है—रंगनातिथु। यह तेज कावेरी के वक्ष पर बसा है। इस छोटे से द्वीप पर विभिन्न रंग, रूप एवं जाति के पक्षियों का अपूर्व जमघट, प्रकृति की रसिकता का अद्वितीय प्रमाण प्रस्तुत करता है और प्रेरणा देता है।

प्राचीन काल में देश का दो तिहाई भू-भाग जंगलों से भरा पड़ा था। पर विडम्बना है कि मनुष्य के स्वार्थ और अदूरदर्शिता के कारण इन्हें उजाड़कर एक चौथाई भी नहीं रहने दिया। वन संरक्षण की राष्ट्रीय नीति पर 1952 में पुनः विचार हुआ तो देशके एक तिहाई भू-भाग को पुनः वनों में परिवर्तित करने की कामना थी। पर आज 33 साल बाद भी हम इस लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ रहे हैं। इसके लिये संवैधानिक प्रावधान ही पर्याप्त नहीं होंगे। इस प्रावधानों को यथार्थ रूप में लागू करने के लिये सरकारी तन्त्र को सक्षम करना होगा। एक देशव्यापी मनोवैज्ञानिक वातावरण बनाना है जिनसे इन विषयों के बारे में जनता में जागृति पैदा हो। और सच पूँछा जाय तो वन उपवनों की सुरक्षा एवं पक्षियों का संरक्षण हमारी प्राकृतिक सौन्दर्यबोध एवं आर्थिक स्वार्थपरता का अजीब संगम है। इसीलिये वृक्षारोपण और पशु संरक्षण की बातें आज विभिन्न मौकों पर एवं विभिन्न स्तरों पर की जाने लगी हैं। ये शब्द आज इतने व्यवहार हो रहे हैं कि इनका अर्थ धूमिल पड़ने लगा है।

अतः सिर्फ यह कहना कि वनों, उपवनों, पशुओं एवं पक्षियों का उचित संरक्षण अति महत्वपूर्ण है, तो निश्चय ही तर्क प्रस्तुत करने का यह असफल

प्रयास होगा। आवश्यकता तो इस बात को समझने की है कि हमें अपनी अस्मिता को सुरक्षित रखने के लिये इन्हें संरक्षण देना ही है, और यह हमारा पावन कर्तव्य है। इस महान कार्य को जनता और सरकार की सम्मिलित शक्ति निश्चय ही सफलता की सीढ़ी पर आगे बढ़ा सकती हैं। इसका परिणाम अभी तो नहीं, पर कुछ दशकों के पश्चात निश्चय ही उभरकर सामने आयेगा। हमारे उजड़ते उपवन और विलखते विहंग पुनः प्रतिष्ठित हो पायेंगे। पक्षियों और प्रकृति का अपूर्व सौन्दर्य आनेवाली पीढ़ियों के लिये इतिहास के पृष्ठों पर अथवा कम्प्यूटर के डिस्कों पर ही अंकित नहीं रहेगा वरन हमें भी इसे देखने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण,
पूर्वी क्षेत्रीय केन्द्र,
रीसा कालोनी,
शिलांग (मेघालय)।

कृष्णमूर्ति प्रसाद सिंह

संक्षिप्त रचनाएँ (2) :

गिरगिट

मनोहारी रंग बदलने वाला गिरगिट शोध का विषय है। मूलतः अफ्रीका में पाये जाने वाले इस रेंगने वाले प्राणी की भारत में **कमेलीआन जीलानिकस** नामक जाति ही उपलब्ध है। पश्चिमी महाराष्ट्र के पहाड़ी इलाके, राजापुर, रत्नागिरी के हरे-भरे पेड़ों के घने जंगलों में यह पाया जाता है।

गिरगिट की आंखें बहुत तेज और सभी ओर आसानी से घूमने वाली होती हैं। इसकी पूंछ लंबी, मजबूत और सहारा पकड़ने योग्य होती है। ज़मीन पर गिरगिट की गति बहुत ही धीमी दिखाई देती है। इसके पैर की उंगलियाँ आमने-सामने (तीन एक तरफ और दो एक तरफ) होती हैं, जिनकी सहायता से यह छोटे पेड़ों की डाली से मजबूती से चिपक जाता है। आमतौर से यह प्राणी छोटे हरे पौधों के बीच छिप के रहता है। इसके मुँह में छिपी हुई लंबी, फैलाने योग्य जुबान होती है, जो भोजन की ओर तेजी से फेंकी जाती है। जुबान की नोक क्लब जैसे आकार की होती है और उसके गोंद जैसे द्रव से भक्ष्य पकड़ कर अपने मुँह में ले लेता है।

गिरगिट का मुँह त्रिकोणकृत होता है। लंबे शरीर का आकार दोनों तरफ से दबा हुआ होता है। भारतीय गिरगिट के नख सामान्य और पंजों पर मुलायम शल्क (स्केल्स) होते हैं। इसके पूंछ की लंबाई शरीर के बराबर होती है। पूरे शरीर पर हरे रंग की छटा में छोटे दाग और पीले रंग के पट्टे होते हैं। अफ्रीकी गिरगिटों में पीला, भूरा और हरे रंग का मिश्रण दिखाई देता है। लीफ कमेलीआन का रंग सूखे पत्ते जैसा होता है।

भारत में गिरगिट महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल तथा गंगा के पश्चिम और दक्षिण भागों के समतल प्रदेश में पाये जाते हैं। वास्तविक रूप में गिरगिटों की उपलब्धि सूखे प्रदेश में कम है। अफ्रीका, मेडागास्कर, पेशावर (पाकिस्तान) और श्रीलंका में भी गिरगिट पाये जाते हैं (डेनियल, 1983)।

गिरगिट दिन में क्रियाशील रहता है और रात में एक डाली पर बैठा

रहता है। जमीन पर, या अन्य पृष्ठभाग पर जिसका रंग हरा न हो, गिरगिट अमाधारण काले रंग के परिधान में रहता है। इस अवस्था में गिरगिट कठिनाई महसूस करता है। इसे स्पर्श करने से यह जबड़ा खोल कर काटने को आता है। जल्द ही हरे पौधे का सहाग लेकर उस पर आसानी से बैठ जाता है, जहां जाते ही इसके शरीर पर हरा रंग हो जाता है।

आहार

प्रयोगशाला में रखा हुआ गिरगिट मुख्यतः तितलियां, घोंघा, झींगुर, पतंगे, व्याध-पतंग, शलभ और बगीचे में घूमने वाले सभी प्रकार के कीटों को खाना पसन्द करता है। पेड़ और घास पर की मकड़ी आदि प्राणी तुरन्त आसानी से खाता है। मरे हुए जीव नहीं खाता। साधारणतः 3 सें. मी. तक लंबाई के कीट को तेजी से पकड़ कर खाता है। छोटी तितलियों को शीघ्रता से मुँह में ले लेता है।

बड़े आकार के गिरगिट अपनी मजबूत और गीली जुबान फेंक कर चूहे के बच्चे भी पकड़कर खा सकते हैं। गिरगिट छोटे मेंढक तेजी से लगातार खाता है।

भक्ष्य पकड़ने तथा खाने की रीति

जब छोटे कीट गिरगिट के आमपास घूमते हैं तब अत्यन्त सावधानी से आँखों के चारों तरफ हलचल कर के यह अंदाज लेता है। इस समय उसके शरीर पर हरा रंग और पीले छोटे दाग दिखाई देते हैं। कुशलता पूर्वक गिरगिट भक्ष्य की ओर बढ़ता है। पैर भी आगे की दिशा में कर लेता है। पूँछ एक डाली पर घुमा कर कम के स्थान निश्चित कर लेता है। तेजी से जुबान भक्ष्य पर फेंकता है और शीघ्र ही भक्ष्य मुँह में ले लेता है। कीट पकड़ने के लिए गिरगिट और भक्ष्य में कुछ अंतर जरूरी है। जुबान 12 से 16 सें. मी. की दूरी तक फेंक के भक्ष्य शीघ्र मुँह में ले सकता है।

जहां भक्ष्य का ऊपरी पृष्ठभाग चिकना हो, जैसे काकरोच, तो वह पहले प्रयत्न में पकड़ा नहीं जाता, बल्कि दुबारा जुबान फेंकता है। जुबान भक्ष्य के बराबर सिर पर फेंक कर भक्ष्य को मुँह में ले लेता है। जुबान की मिली नोंक पर भक्ष्य पक्का चिपक जाता है। भक्ष्य को जबड़े में पकड़ते ही गिरगिट उसे खाने की शुरुआत करता है। हलचल करने वाले कीट को जबड़े में 2-3 सेकंड के लिए पकड़ कर स्थिर रहता है। इस अवस्था में मुँह उपरी दिशा में कर लेता है। बाद में जबड़े की थोड़ी हलचल कर

के धीरे धीरे पूरा भक्ष्य खा जाता है। पंख, पैर, ऐंटीना भक्ष्य के पूरे अवयव खाये जाते हैं। जबड़े की पकड़ मजबूत होती है। पाँच मिनट के अंदर गिरगिट पूरा भक्ष्य खा जाता है।

पूरा भक्ष्य खाने के बाद गला और पेट में हलचल होती है। शरीर आगे पीछे तथा बगल में हिलाता है। साथ ही गिरगिट के पेट में अकुंचन और प्रसरण की क्रिया पाँच मिनट तक चलती है। अंत में गिरगिट एक डाली पर सुस्त बैठ कर कुछ अवसर तक आंखें बंद कर के विश्राम करता है।

आभार ज्ञापन

लेखक गण, निदेशक भारतीय प्राणि सर्वेक्षण विभाग, कलकत्ता, और पश्चिमी क्षेत्रीय केन्द्र के डा. जी. एम. यजदानी, श्री जे. एन. प्रसाद, और श्री ए. आर. केलमकर के आभारी हैं।

संदर्भ

डेनियल, जे. सी. 1983. दि बुक आफ इंडियन रेप्टाइल्स। बांबे नेचु. हिस्ट. सोसा. द्वारा प्रकाशित : 141.

भारतीय प्राणि सर्वेक्षण,
पश्चिमी क्षेत्रीय केन्द्र,
पुणे-411 005.

भास्कर एकनाथ यादव
राजेन्द्र हरीभाऊ कांबले